विश्व की कहानी

एक भीमकाय दूरदर्शक द्वारा आकाशीय पिण्डों का अध्ययन

पृथ्वी की गति के कारण वही आकाशीय पिण्ड दूरदर्शक के दृष्टिक्षेत्र में स्थिर नहीं रह सकते। अतएव दूरदर्शक इस प्रकार आरोपित रहता है कि वह भू-अक्ष के समानांतर अक्ष के बल घूम सके। आकाशीय पिण्डों के निरीक्षण, और विशेषतः उनके फ़ोटो लेते समय, एक बहुत ही सच्ची घड़ी लगाकर उसे ठीक पृथ्वी के वेग से घुमाया जाता है। ज्योतिषी एक सहायक दूरदर्शक द्वारा बराबर उन्हीं आकाशीय पिण्डों की ओर देखता रहता है। दूरदर्शक में स्थित स्वस्तिक तारों (दे० कोने का चित्र) की सहायता से उसे पिण्डों के स्थानों में लेशमात्र अंतर का भी पता चलता रहता है। यदि कुछ भी अंतर दिखाई दिया तो वह बिजली के बटन को दबाकर दूरदर्शक की गति में इच्छानुसार परिवर्त्तन कर देता है। इस प्रकार अत्यंत तीक्ष्ण और स्पष्ट फ़ोटो उतारे जा सकते हैं।

दूरदर्शक

जिस यंत्र द्वारा आकाश के अगणित अदृश्य पिण्ड मानव दृष्टि-क्षेत्र में घसीट लाए गए हैं, और जिसके द्वारा उनके अनेकानेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है, उसी का मनोरंजक वर्णन हम इस लेख में पढ़ेंगे। हम देखेंगे कि शीशे और दर्पण ने मनुष्य की दृष्टि-शक्ति को कितना आगे बढ़ा दिया है!

उस यंत्र को जिसकी सहायता से ज्योतिषी दूरस्थ वस्तुओं को स्पष्ट और प्रवर्द्धित आकार का देखता है दूरदर्शक या दूरबीन कहते हैं। चंद्रमा के पहाड़, शुक्र की कलाएँ, मंगल की धारियाँ, बृहस्पति के उपग्रह, शनि के वलय आदि का ज्ञान इसी यंत्र से हमें प्राप्त हो सका है। इसलिए इस यंत्र की रचना, इतिहास आदि का ज्ञान अवश्य ही चित्ताकर्षक होगा।

दूरदर्शक अपेक्षाकृत अत्यंत सरल यंत्र है। उचित नाप की एक नली के दोनों सिरों पर ताल (लेन्स) लगे रहते हैं, एक ओर बड़ा, एक ओर छोटा; बस यही दूरदर्शक की बनावट है। जिस किसी ने फ़ोटोग्राफ़ी के कैमरे की जाँच की होगी, या व्यवसायी फ़ोटोग्राफ़र को फ़ोटो लेने की तैयारी करते हुए निकट से देखा होगा, वह जानता होगा कि कैमरे के ताल से एक प्रतिबिंब बनता है जिसमें विषय का प्रत्येक ब्योरा बड़ी सचाई से अंकित रहता है।

दूरदर्शक के बड़े ताल का भी काम यही है कि वह आकाशीय पिण्ड का सच्चा प्रतिबिंब बनावे। यह प्रतिबिंब आकाशीय पिण्ड से बहुत छोटा होता है अवश्य, परंतु इस प्रतिबिंब को हम निकट से देख सकते हैं। इसलिए साधारणतः हमें प्रतिबिंब की जाँच से ब्योरों का अधिक ज्ञान हो सकता है; बिना इस ताल के आकाशीय पिण्ड को कोरी आँख से सीधे देखने पर हमें इतने ब्योरे कभी नहीं दिखलाई पड़ सकते। उदाहरणतः, यदि हम १०० इंच नाभ्यांतर* का कोई बढ़िया ताल लें तो इससे चंद्रमा का प्रतिबिंब लगभग एक इंच व्यास का बनेगा। इस प्रतिबिंब को हम ६ इंच की दूरी से देख सकते हैं। इतनी कम दूरी से देखने पर इसमें जितने ब्योरे दिखलाई पड़ेंगे उतने बिना ताल के कभी न दिखलाई पड़ेंगे। एक दूसरे उदाहरण से संभवतः यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी। यदि हम इस हिंदी विश्व-भारती के एक पृष्ठ को २० फुट पर रख दें तो हम इसके किसी भी अक्षर को स्पष्ट न देख पावेंगे, परंतु यदि हम अब बीच में १०० इंच
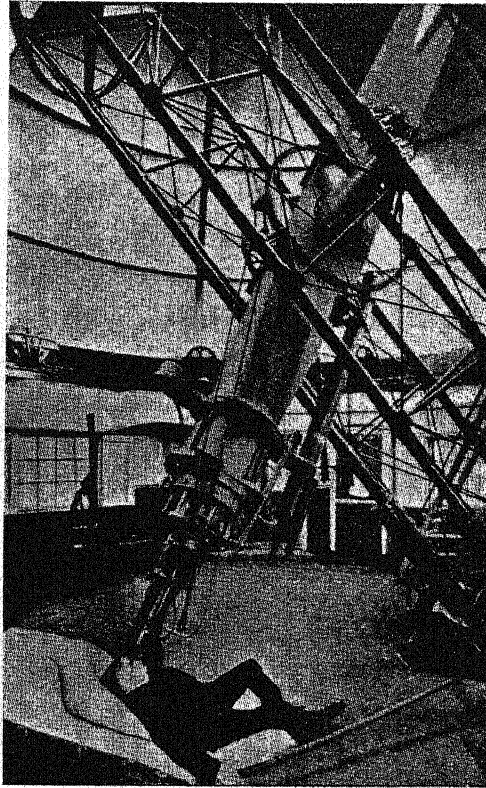
दूरदर्शक द्वारा आकाश-पिण्डों का निरीक्षण
एक बार आकाश-पिण्डों को दृष्टिक्षेत्र में लाकर घड़ी चालू कर देने पर वे ही पिण्ड घंटों दिखलाई पड़ते हैं।

*** ताल से दूरस्थ वस्तु के प्रतिबिंब की दूरी को 'नाभ्यांतर' कहते हैं।**

वाले ताल को रखकर उससे बनी मूर्त्ति की जाँच करें तो हमें पृष्ठ के स्पष्ट रूप से पढ़ लेने में कुछ भी कठिनाई न पड़ेगी। हाँ, एक असुविधा यह होगी कि प्रतिबिंब उल्टा बनेगा, चित्रों के प्रतिबिंब में सर नीचे रहेंगे और टाँगें ऊपर। दूरदर्शक से भी आकाशीय पिण्ड इसी प्रकार उल्टे दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु उनमें सिर और टाँग का भेद-भाव न होने के कारण ज्योतिषियों को कोई अड़चन नहीं पड़ती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दूरदर्शक के बड़े ताल से (जिसे 'प्रधान ताल' कहते हैं) दूरस्थ वस्तुएँ हमें स्पष्ट और बड़ी दिखलाई पड़ती हैं। परंतु दूरदर्शक की प्रवर्द्धन-शक्ति अकेले प्रधान ताल से ही नहीं मिलती। इसके छोटे ताल से भी बड़ी सहायता मिलती है। इस छोटे ताल को 'चक्षुताल' कहते हैं क्योंकि आँख इधर ही लगाई जाती है। चक्षुताल का नाभ्यांतर अत्यंत छोटा रक्खा जाता है, $\frac{1}{4}$ इंच या इससे भी कम। सभी ने देखा होगा कि आतिशी शीशे या बूढ़े व्यक्तियों के चश्मे के तालों द्वारा अक्षर या अन्य समीपस्थ वस्तुएँ बड़ी दिखलाई पड़ती हैं। ऐसे ताल बीच में मोटे और चारों ओर पतले अर्थात् उन्नतोदर होते हैं। वस्तुओं को बड़े आकार की दिखलाने के कारण इनको प्रवर्द्धक ताल भी कहते हैं। दूरदर्शक का चक्षुताल वस्तुतः एक प्रवर्द्धक ताल ही है। इसके द्वारा देखने पर प्रधान ताल से बना प्रतिबिंब और भी बड़ा दिखलाई पड़ता है।

दूरदर्शक का चक्षुताल

इस चक्षुताल के ही निकट आँख लगाकर दूरदर्शक में देखा जाता है। दूरदर्शक की प्रवर्द्धन शक्ति और उसमें रंगदोष का न रहना बहुत कुछ चक्षुताल पर निर्भर रहता है।

इस प्रकार प्रधान ताल और चक्षुताल दोनों ही प्रवर्द्धन-शक्ति के बढ़ाने में सहायता देते हैं। प्रधान ताल का नाभ्यांतर जितना ही अधिक होगा और चक्षुताल का नाभ्यांतर जितना ही कम होगा, अंतिम प्रवर्द्धन-शक्ति उतनी ही अधिक होगी; परंतु क्रियात्मक रूप से इस नियम का उपयोग केवल एक सीमा तक ही हो सकता है। प्रवर्द्धन-शक्ति की सीमा प्रधान ताल की सचाई और उसके व्यास पर निर्भर है। प्रधान ताल के व्यास की नाप इंचों में जानकर उसे १०० से गुणा करने पर दूरदर्शक की महत्तम प्रवर्द्धन-शक्ति ज्ञात हो सकती है। उदाहरणतः, यदि किसी दूरदर्शक का व्यास २० इंच है तो इसमें न्यूनाधिक नाभ्यांतर का चक्षुताल लगाकर प्रवर्द्धन-शक्ति न्यूनाधिक की जा सकती है, परंतु इसे २०×१०० अर्थात् २,००० से अधिक करने से कुछ लाभ न होगा। सो भी इतना छोटे नाभ्यांतर का चक्षुताल कि प्रवर्द्धन-शक्ति २००० हो जाय केवल उसी दिन लगाया जा सकता है जिस दिन वायुमंडल अत्यंत स्वच्छ और स्थिर हो। अन्यथा इतनी अधिक प्रवर्द्धन-शक्ति के उपयोग का परिणाम केवल यही होगा कि बाह्य आकार तो बढ़ जायगा, परंतु ब्योरे भद्दे हो जायँगे; यहाँ तक कि लीपा-पोती-सी हो जायगी और सूक्ष्म ब्योरे सब मिट जायँगे। फल बहुत-कुछ वैसा ही होगा जैसा तब जब पृष्ठ का आकार बड़ा कर दिया जाय, अक्षर भी बड़े-बड़े हो जायँ, परन्तु रोशनाई इतनी फैल जाय कि अक्षर सब एक-दूसरे पर चढ़ जायँ और इसलिए कोई भी अक्षर न पढ़ा जाय। साधारण परिस्थितियों में दूरदर्शक के प्रधान ताल के व्यास की इंचों में नाप की २० गुनी प्रवर्द्धन-शक्ति से ही संतोष करना पड़ता है।

रंग-दोष आदि

अधिक प्रवर्द्धन-शक्ति के उपयोग में एक बाधा यह भी है कि प्रधान ताल पूर्णतया दोष-रहित नहीं रहता। यदि किसी तारे के प्रतिबिंब की सूक्ष्म जाँच की जाय तो पता चलेगा कि प्रतिबिंब के चारों ओर रंगीन झालर-सी है, बहुत-कुछ वैसी ही जैसी वस्तुओं को शीशे की कलम (त्रिपार्श्व) द्वारा देखने पर दिखलाई पड़ती है। वैज्ञानिकों ने बहुत चेष्टा की है कि यह 'रंग-दोष' मिट जाय। फ़ोटोग्राफ़ी के लिए बने लेन्सों में तो उनको इस विषय में प्रायः पूर्ण सफलता मिली है। उन्होंने तीन, चार, या अधिक ऐसे सरल तालों के उपयोग से जो विभिन्न रासायनिक बनावट के शीशों से बने रहते हैं और जिनमें से कुछ नतोदर रहते हैं, कुछ उन्नतोदर, रंग-दोष पर विजय पा लिया है। परंतु जब उन्हें दूरदर्शक के लिए तीस-चालीस इंच के व्यास का ताल बनाना पड़ता है तब इन सिद्धांतों को कार्यरूप में परिणत करने में तरह-तरह की कठिनाइयाँ पड़ती हैं। बड़े दूरदर्शकों में से किसी के

प्रधान ताल में दो से अधिक सरल ताल नहीं हैं। कुछ ऐसे दूरदर्शक अवश्य बनाये गये हैं जिनके प्रधान ताल में तीन सरल ताल हैं, परंतु ऐसे दूरदर्शक बहुत बड़े नाप के नहीं बनाये जा सके हैं।

जिस प्रकार प्रधान ताल दो या तीन सरल तालों के संयोग से बनाया जाता है उसी प्रकार चक्षुताल भी वस्तुतः कई सरल तालों से बना रहता है। चित्रों के देखने से अच्छे चक्षुताल की बनावट का पता चल जायगा।

दर्पणयुक्त दूरदर्शक

प्रतिबिंब दर्पण से भी बन सकता है। साधारण दर्पण
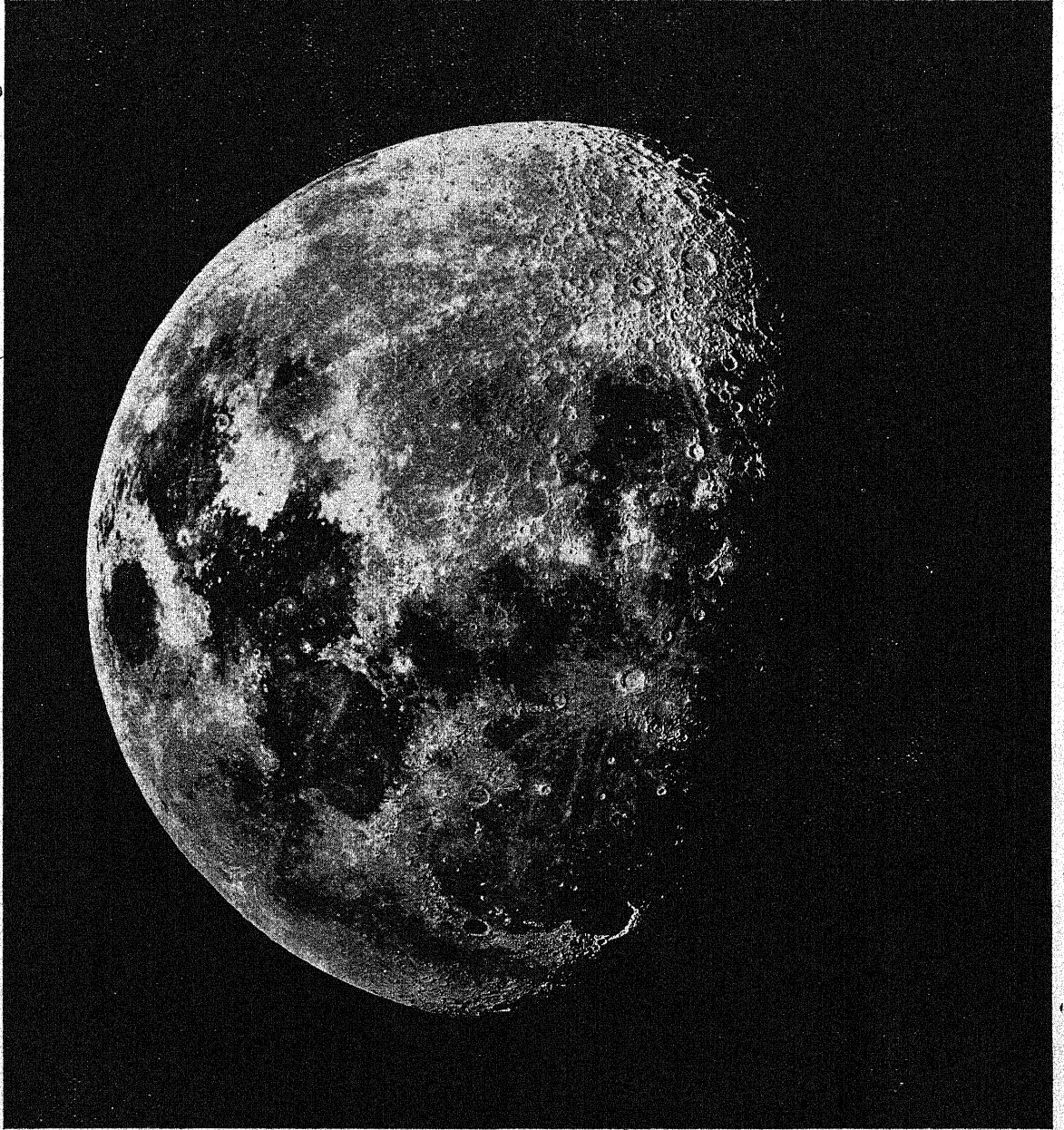
चन्द्रमा का एक फ़ोटोग्राफ़

रंग-दोष के न रहने के कारण दर्पणयुक्त दूरदर्शक से फ़ोटोग्राफ़ अत्यन्त स्पष्ट उतरता है।

में जो प्रतिबिंब बनता है वह दर्पण के उस पार बनता है और दर्पण से उतनी ही दूरी पर रहता है जितनी दूरी पर वास्तविक पिण्ड। उदाहरणतः, यदि हम चंद्रमा का प्रतिबिंब साधारण दर्पण में देखें तो पता चलेगा कि चंद्रमा का प्रतिबिंब दर्पण से उतनी ही दूर है जितना चंद्रमा। परंतु यदि हम साधारण सपाट दर्पण के बदले तवे की तरह नतोदर दर्पण लें तो इसमें प्रतिबिंब दर्पण के उस पार बनने के बदले दर्शक की ओर बनेगा, जिसका सूक्ष्म निरीक्षण कोरी आँख से या चक्षुताल से किया जा सकेगा। इस प्रकार नतोदर दर्पण और चक्षुताल के संयोग से बने दूरदर्शक को दर्पणयुक्त दूरदर्शक कहते हैं। आजकल के बड़े-से-बड़े दूरदर्शक सब दर्पणयुक्त ही हैं क्योंकि बहुत बड़े प्रधान ताल बन नहीं सकते। संसार का सबसे बड़ा तालयुक्त दूरदर्शक ४० इंच व्यास का है। सबसे बड़ा वर्तमान दर्पणयुक्त दूरदर्शक १०० इंच व्यास का है। २०० इंच व्यास का दर्पणयुक्त दूरदर्शक कई वर्षों से बन रहा है। यह आज (अप्रैल १६४२) तक तैयार नहीं हो पाया है, परंतु आशा की जाती है कि यह शीघ्र ही तैयार हो जायगा, क्योंकि इसमें अब थोड़ा ही काम शेष रह गया है।

आश्चर्यजनक सूक्ष्मता

इन दर्पणों के बनाने में आश्चर्यजनक सूक्ष्मता की आवश्यकता पड़ती है। यदि गणितसिद्ध आकार से दर्पण का पृष्ठ कहीं भी नाममात्र ऊँचा या नीचा रहे तो प्रतिबिंब सच्चा न बनेगा और ब्योरे मिट जायँगे। हद दर्जे की सूक्ष्मता का वर्णन करने के लिए लोग कहते हैं कि बाल-बराबर भी अंतर नहीं है; परंतु दूरदर्शकों के बनाने में बाल-बराबर अंतर तो बहुत हो जायगा। बाल की मुटाई के हज़ारवें भाग का अंतर भी नहीं पड़ना चाहिए। जैसा सभी विज्ञान-प्रेमी जानते हैं, गरमी पाकर वस्तुएँ कुछ बड़ी हो जाती हैं। शीशा भी इसी प्रकार ताप से बढ़ जाता है। यदि १०० इंच व्यासवाले दर्पण को जाड़े के दिन में कोई अपनी अँगुली से छू दे तो अँगुली की गरमी पाकर वहाँ की सतह नाममात्र उभड़ आयेगी—कितनी कम उभड़ेगी इसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते होंगे। परंतु प्रतिबिंब की सुस्पष्टता नष्ट करने के लिए इतना ही पर्याप्त है! २०० इंच व्यास के दर्पण बनाने में विशेष डर इसी बात का था कि लाख प्रत्यन करने पर भी इसकी सतह के ३१,००० वर्ग इंचों को सदा एक ही तापक्रम पर न रक्खा जा सकेगा। लोगों का विश्वास था कि इतना बड़ा दर्पण तापक्रम-विभिन्नताओं के कारण १०० इंच व्यासवाले दर्पण से किसी प्रकार अच्छा न होगा, परंतु ज्योतिषियों की सहायता रसायनज्ञों ने की। यह भीमकाय दर्पण पाइरेक्स नाम के विशेष शीशे से बनाया गया है, जो ताप के कारण इतना कम बढ़ता है कि आग से निकाले लाल शीशे पर ठंढा पानी छोड़ने पर भी वह नहीं टूटता। साधारण शीशा ऐसी दशा में चूर-चूर हो जायगा, क्योंकि ठंडा पानी के पड़ते ही ऊपरी सतह एका-एक इतनी संकुचित हो जायगी कि यह सतह चिथड़े की तरह फट जायगी।

नतोदर दर्पण की सतह बहुत छिछली रहती है; परंतु इसे एक विशेष आकार का होना चाहिए। गेंद की तरह गोल वस्तु की सतह नतोदर दर्पण की सतह को सर्वत्र कभी भी नहीं छू सकती, चाहे उस गोले का व्यास कितना ही कम या कितना ही अधिक रक्खा जाय। वस्तुतः नतोदर दर्पण की सतह 'परवलयाकार' होती है जो गोलाकार सतह से थोड़ी-सी ही भिन्न होती है। दर्पण को प्रस्तरचूर्ण से रगड़-रगड़कर और बार-बार परीक्षा करके उसे सच्चा परवलयाकार बनाया जाता है। अंत में इस पर क़लई कर दी जाती है।

आरोपण

मनुष्य का दृष्टिक्षेत्र परिमित है। यदि चंद्रमा को हम १,००,००० गुना बड़ा करके देखना चाहें—और हमारे बड़े दूरदर्शकों से ऐसा करना संभव भी है—तो हम समूचे चंद्रमा को एक बार में ही न देख पायेंगे। वस्तुतः हम इसके एक छोटे-से अंश को अत्यंत प्रवर्द्धित पैमाने पर देखेंगे। परंतु सभी आकाशीय पिण्ड बराबर पूर्व से पश्चिम की ओर चला करते हैं, जिसका कारण यह है कि पृथ्वी अपने अक्ष पर २४ घंटे में एक बार के हिसाब से घूमती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि चंद्रमा या अन्य आकाशीय पिण्ड का वह नन्हा-सा भाग जो दूरदर्शक में हमें किसी क्षण दिखलाई पड़ता है, दूसरे क्षण दृष्टिक्षेत्र के बाहर चला जाता है। प्रवर्द्धन-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतने ही अधिक वेग से आकाशीय पिण्ड भागते दिखलाई पड़ेंगे। इसलिए स्थिर दूरदर्शकों से आकाशीय पिण्डों का सूक्ष्म निरीक्षण असंभव है। इसका प्रतिकार इस भाँति किया जाता है कि दूरदर्शक को भी घड़ी द्वारा चलाकर बराबर आकाशीय पिण्ड के एक ही अंग की ओर रक्खा जाता है।

इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए दूरदर्शक की नली को
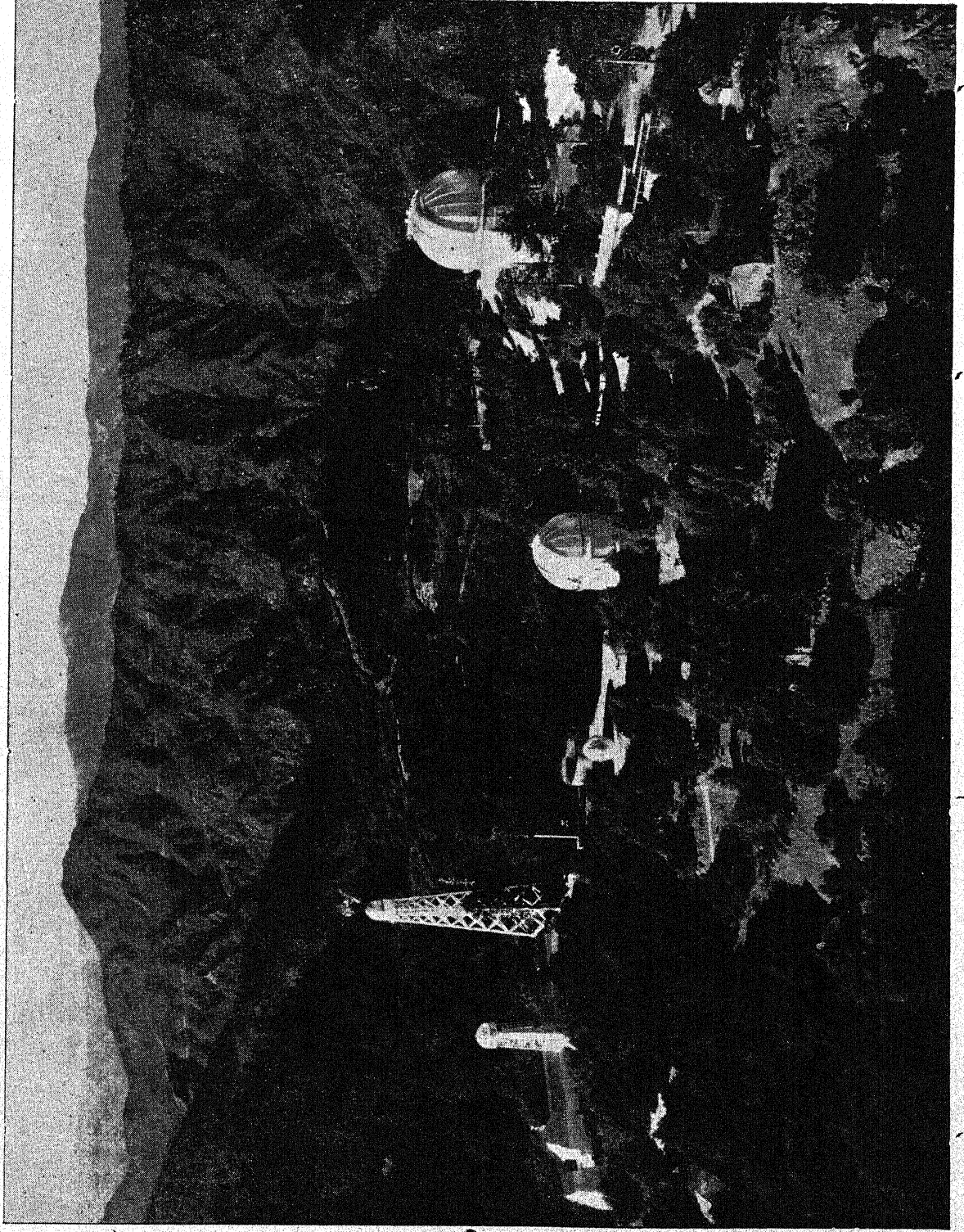
अमरीका की जगत्-प्रसिद्ध माउण्ट विल्सन वेधशाला [वायुयान द्वारा लिया गया फ़ोटोग्राफ़]।
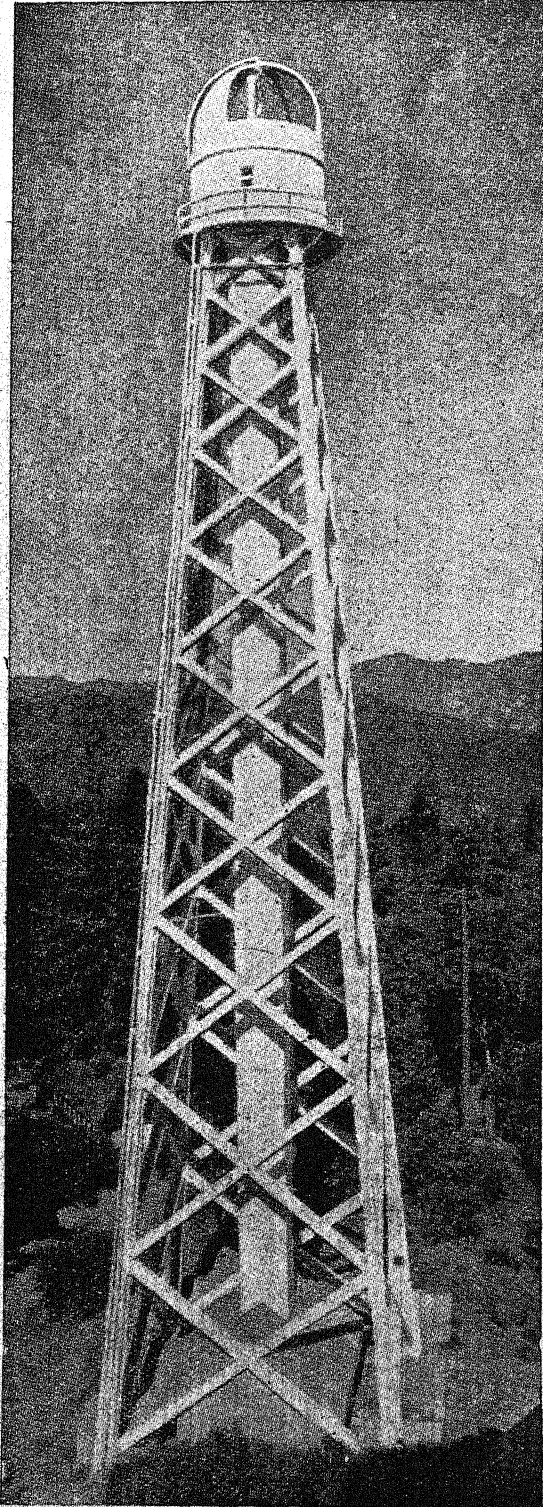
इस प्रकार आरोपित किया जाता है कि वह भू-अक्ष के समानांतर अक्ष के बल घूम सके। फिर बहुत सच्ची घड़ी लगाकर दूरदर्शक को ठीक उसी वेग से चलाया जाता है, जिस वेग से पृथ्वी घूमती है। परंतु सब कुछ करने पर भी घड़ी के वेग और भू-वेग में थोड़ा-बहुत आकस्मिक अन्तर रह ही जाता है। इसके परिशोध के लिए बड़े दूरदर्शकों में एक दूसरा सहायक दूरदर्शक बँधा रहता है। जब प्रधान दूरदर्शक से फ़ोटो लिया जाता है और यह आवश्यक रहता है कि कुछ समय तक दूरदर्शक एकदम ठीक वेग से चले तो ज्योतिषी सहायक दूरदर्शक द्वारा बराबर देखता रहता है। लेशमात्र भी अंतर दृष्टिगोचर होते ही वह बिजली के बटनों को दबाकर दूरदर्शक की दिशा में इच्छानुसार सूक्ष्म परिवर्त्तन कर सकता है। इस प्रकार अत्यंत तीक्ष्ण और स्पष्ट फोटो उतारे जा सकते हैं। यदि फोटो न उतारना हो, केवल आँख से दूरदर्शक द्वारा आकाशीय पिण्डों को देखना हो, तो एक बार पिण्ड को दूरदर्शक के केंद्र में लाकर घड़ी चला देने पर वह पिण्ड घंटों तक दूरदर्शक में दिखलाई पड़ता रहेगा।

विभिन्न पिण्डों को देखने के लिए दूरदर्शक उत्तर-दक्षिण दिशा में भी चलाया जा सकता है। एक बार पिण्ड की ओर दूरदर्शक को घुमाकर पेंच कस देने पर तब तक उसे हटाना नहीं पड़ता जब तक किसी दूसरी वस्तु को न देखना हो।

अट्टालिका दूरदर्शक

सूर्य को छोड़ अन्य आकाशीय पिण्डों में इतना अधिक प्रकाश नहीं रहता कि उनके प्रकाश-मार्ग में एक-दो दर्पण रखकर उनके प्रकाश की दिशा सुविधानुसार दिशा में मोड़ ली जाय। दर्पणों के प्रयोग से उनके प्रकाश में जितना क्षय होगा वह उपेक्षायोग्य न होगा। सौभाग्य से सूर्य के लिए बात ऐसी नहीं है। सर्व सूर्य-ग्रहण देखने के लिए ज्योतिषियों को अनेक बीहड़ स्थानों में जाना पड़ता

माउण्ट विल्सन का एक अट्टालिका दूरदर्शक

सूर्य की फ़ोटोग्राफ़ी में इस दूरदर्शक का उपयोग होता है। लोहे के गर्डरों से बने स्तंभ के ऊपर एक गुम्बद में यह स्थिर रक्खा रहता है, और भू-अक्ष के समानांतर अक्ष पर घूम सकनेवाले एक घड़ी-संचालित समतल दर्पण की सहायता से वही विषय देर तक देखा जा सकता है। अट्टालिका का प्रत्येक गर्डर खोखली नली में बंद रहता है जो गर्डर को कहीं नहीं छूता, जिससे हवा के झकोरों से कोई थरथराहट नहीं हो सकती।

गर्डर को कहीं नहीं छूता। इस युक्तिपूर्ण प्रबन्ध से वेग के तूफ़ान में भी भीतरी स्तंभ में कोई थरथराहट नहीं उत्पन्न हो पाती।

गुम्बद

यदि कभी भी आपको किसी वेधशाला के देखने का अवसर मिलेगा तो आपका ध्यान इसके अर्द्ध-गोलाकार गुंबदों की ओर अवश्य आकर्षित होगा। इन गुंबदों के भीतर वेधशाला के बड़े दूरदर्शक रहते हैं। बड़े दूरदर्शक खुले मैदान में आरोपित नहीं किये जा सकते, क्योंकि वे वहाँ धूप और पानी से शीघ्र नष्ट हो जायँगे। यदि वे साधारण घरों के भीतर रक्खे जायँ तो उनसे फिर आकाशीय
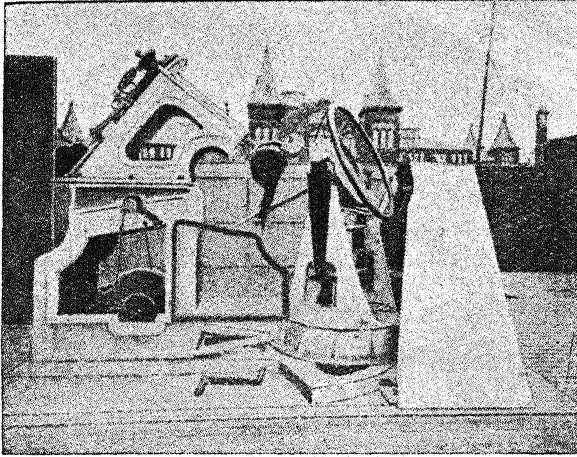
सीलोस्टैट

अट्टालिका दूरदर्शक में लगे हुए समतल दर्पण को सीलोस्टैट कहते हैं। यह उसी दर्पण का चित्र है।

है और वहाँ कुछ दिनों के लिए अस्थायी वेधशाला बना लेनी पड़ती है। ऐसी परिस्थितियों में सुविधा इसी में होती कि दूरदर्शक को स्थिर रक्खा जाय और इसके सामने घड़ी-संचालित समतल दर्पण रक्खा जाय। यह दर्पण इस प्रकार आरोपित रहता है कि भू-अक्ष के समानान्तर अक्ष पर घूम सके। ऐसे दर्पण को परावर्त्तनीय स्थापक (Coelostat सीलोस्टैट) कहते हैं।

अमरीका की एक वेधशाला में अट्टालिका दूरदर्शक है। वस्तुतः यह लोहे के गर्डरों का बना स्तंभ है, जिसके ऊपर परावर्त्तनीय स्थापक रक्खा है। सूर्यप्रकाश इस यंत्र के दर्पण से मुड़कर नीचे आता है और ऊर्ध्वाधर स्थिर दूरदर्शक में जाता है। वायु के झकोरों के कारण अट्टालिका की थरथराहट से कोई गड़बड़ी न हो इस अभिप्राय से अट्टालिका का प्रत्येक गर्डर खोखली नली में बंद है, जो

वेधशाला का गुम्बद

इस गुम्बद के भीतर वेधशाला का बड़ा दूरदर्शक रहता है। इसमें शीर्ष से जड़ तक एक पतला-सा झरोखा कटा रहता है, जिसे खिसकनेवाले पल्ले को बगल हटाकर खोला जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुल गुम्बद घूम सकता है। इससे यह झरोखा किसी भी दिशा में लाया जा सकता है। गुंबद के कारण धूप, पानी और हवा से दूरदर्शक सुरक्षित रहता है। (फ़ोटो रॉयल आब्ज़र्वेटरी ग्रीनिच की कृपा से प्राप्त।)

पिण्ड कैसे देखे जा सकेंगे ? वे इतने छोटे या हलके तो होते नहीं कि जब चाहें तब उन्हें घर के बाहर निकाल लें और जब चाहें तब उनको फिर घर में लाकर रख दें। इसलिए उनके ऊपर धातु-पत्र का बना, इस्पात के गर्डरों से सुदृढ़ किया गुंबद रहता है। इस गुंबद में शीर्ष से जड़ तक एक पतला-सा झरोखा कटा रहता है, जिसे एक

गुम्बदों का एक दूसरा दृश्य
ग्रीनिच वेधशाला के इन गुम्बदों के झरोखे बन्द हैं, क्योंकि दूरदर्शक से निरीक्षण का काम नहीं लिया जा रहा है। (फ़ोटो रायल आब्ज़र्वेटरी ग्रीनिच की कृपा से)

खिसकनेवाले पल्ले को बगल में हटाकर खोला जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुल गुंबद घूम सकता है। इससे यह झरोखा इच्छानुसार किसी भी दिशा में लाया जा सकता है। इस प्रबंध से ज्योतिषी गुंबद के नीचे बैठे-ही-बैठे झरोखा खोल और गुंबद को आवश्यकतानुसार दिशा में घुमाकर आकाश के किसी भी भाग को अपने दूरदर्शक से देख सकता है। गुंबद के कारण ओस, शीत और वायु से भी वह सुरक्षित रहता है। काम हो जाने पर झरोखा बंद कर देने से यंत्र की भी समुचित रक्षा होती है।
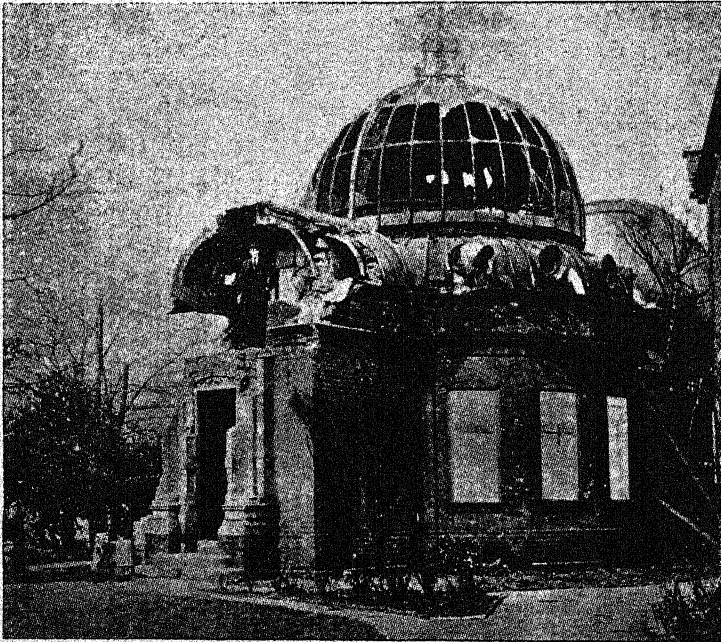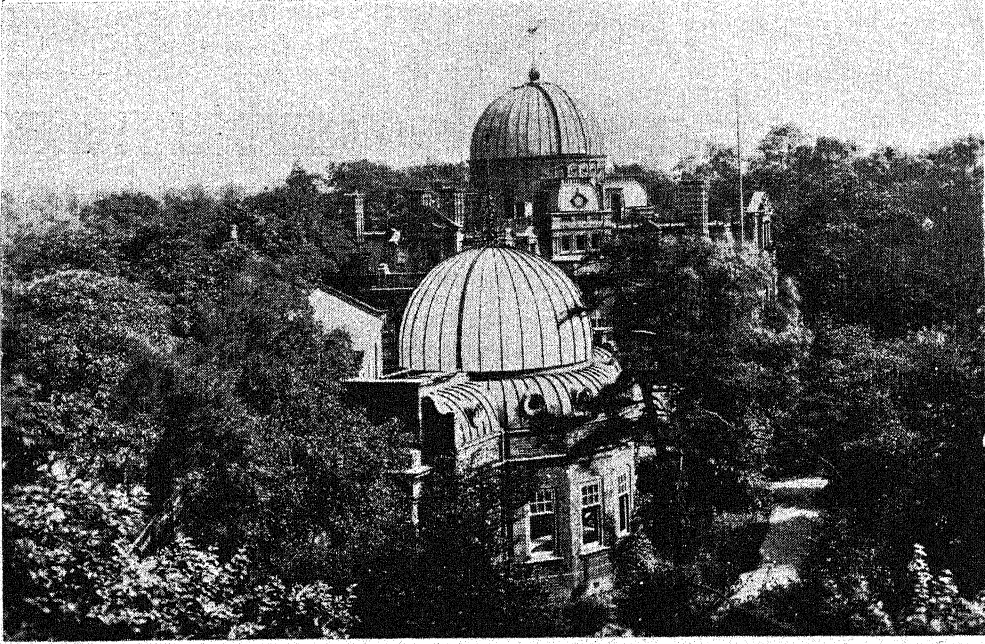
इस चित्र में ग्रीनिच वेधशाला का दूरदर्शक-भवन दीख रहा है—यह फ़ोटो १९४० में जर्मन बमवर्षकों द्वारा विध्वंस किये जाने पर ली गई थी। सौभाग्यवश वेधशाला के दूरदर्शक को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँची।

उपयोगिता

दूरदर्शक की उपयोगिता केवल यही नहीं है कि उससे आकाशीय पिंड प्रवर्द्धित आकार के और इसलिए अधिक स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। दूरदर्शक से बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी भी दिखलाई पड़ती हैं जो अत्यंत छोटी

या मंद प्रकाश की होने के कारण कोरी आँख से दिखलाई ही नहीं पड़तीं। कारण यह है कि दूरदर्शक का प्रधान ताल आँख की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा होता है और इसलिए अत्यंत अधिक मात्रा में प्रकाश को एकत्रित करता है, उदाहरणतः, ४० इंचवाले दूरदर्शक से तारे कोरी आँख की अपेक्षा ३५,००० गुने अधिक चमकीले दिखलाई पड़ते हैं। इसलिए इससे ऐसे भी तारे दिखलाई पड़ते हैं, जिनसे कोरी आँख से दिखलाई पड़नेवाले मंदतम तारे की अपेक्षा केवल ३५ हज़ारवें अंश में ही प्रकाश आता है। फ़ोटोग्राफ़ी का सहयोग पाकर दूरदर्शक ने इनसे भी मंद प्रकाश के आकाशीय पिण्डों को हमारी दृष्टि के सम्मुख ला दिया है। बात यह है कि प्रकाश के अत्यंत मंद होने पर हम वस्तु को नहीं देख सकते, चाहे घंटों घूरते रहें। परंतु फ़ोटोग्राफ़ी के प्लेट पर मंद प्रकाश का प्रभाव एकत्रित होता चलता है। कई घंटे का प्रकाशदर्शन (एक्सपोज़र) देकर हम ऐसे पिण्डों का भी स्पष्ट चित्र प्राप्त कर सकते हैं जो उसी दूरदर्शक में आँख लगाने पर एकदम नहीं दिखलाई पड़ते। अवांतर ग्रहों के आविष्कार में फ़ोटोग्राफ़ी के प्लेट के इस गुण से पूरा लाभ उठाया गया है। अनेक नीहारिकाओं के पूरे विस्तार का सच्चा ज्ञान हमें फ़ोटोग्राफ़ी से ही मिल सका है।

दूरदर्शक से फ़ोटोग्राफ़ लेने के लिए साधारणतः चक्षु-ताल हटा दिया जाता है और प्रतिबिंब के धरातल में फ़ोटोग्राफ़ी की प्लेट लगा दी जाती है। फ़ोटोग्राफ़ लेने से समय की भी बड़ी बचत होती है। जिन ब्योरों के
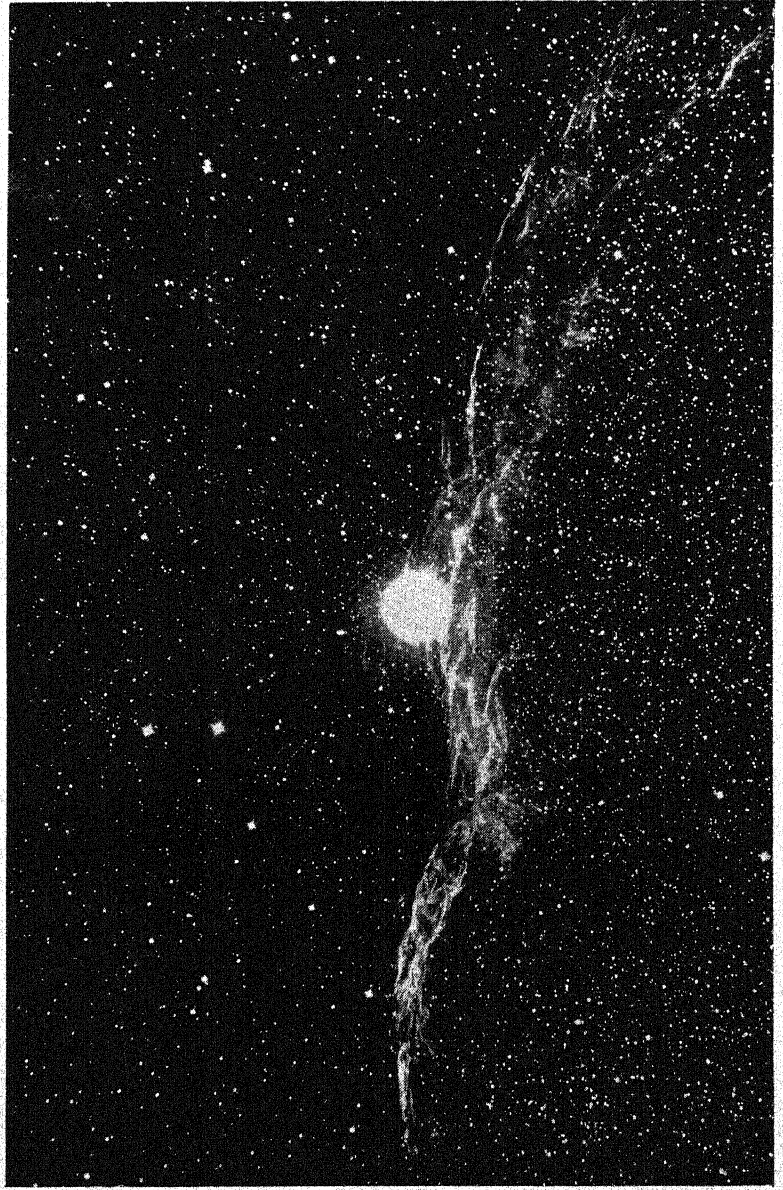
सिग्नस की ब्राइडलवेल नीहारिका

अन्य कई नीहारिकाओं की भाँति ब्राइडल नीहारिका भी हमारी पृथ्वी से कई अरब मील की दूरी पर स्थित है। इनसे इतना कम प्रकाश हम तक पहुँच पाता है कि बढ़िया दूरदर्शकों से भी हमारी आँखें इन्हें देखने में असमर्थ होती हैं। दूरदर्शक तथा फ़ोटोप्लेट की सहायता से घण्टों का प्रकाशदर्शन देकर इन नीहारिकाओं की फ़ोटो ली जा सकी है।
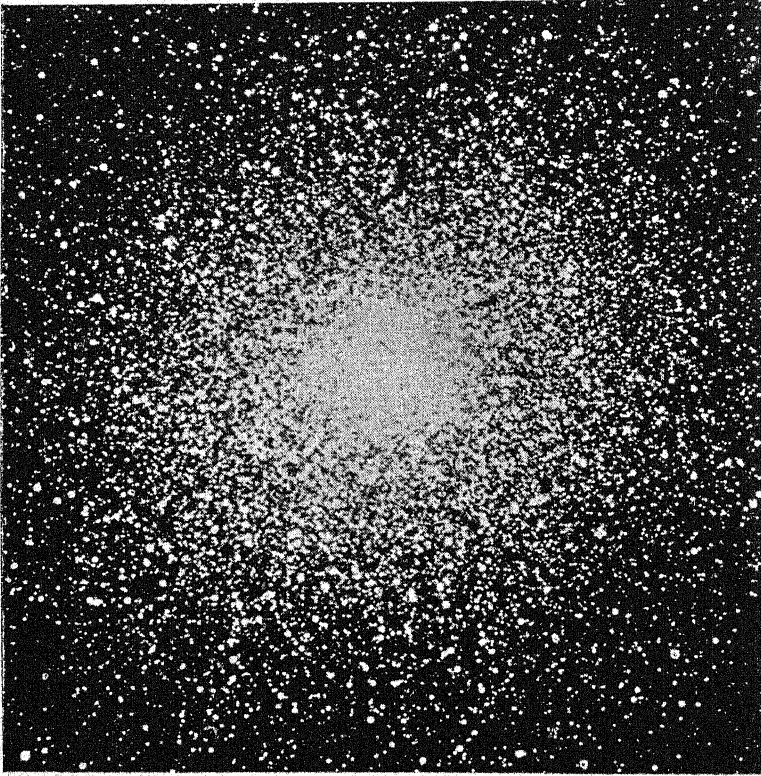
एक तारापुंज

दूरदर्शक की सहायता बिना यह सुंदर तारापुंज सदा अदृश्य ही रहता। एक ६० इंच के दर्पणवाले दूरदर्शक द्वारा ११ घंटे का प्रकाशदर्शन देकर यह फ़ोटो खींचा गया था। (फ़ोटो माउण्ट विल्सन वेधशाला की कृपा से प्राप्त)।

देखने या नापने में घंटों तक दूरदर्शक फँसा रहता वे अब दो-चार सेकंड का प्रकाश-दर्शन देकर फ़ोटोग्राफ़ में अंकित कर लिये जा सकते हैं। तब इन फ़ोटोग्राफ़ों का अध्ययन या नाप-जोख सुविधानुसार घंटों तक किया जा सकता है। इस प्रकार एक ही दूरदर्शक से कई ज्योतिषी काम कर सकते हैं।

सतह के ब्योरे, विभिन्न अंगों या पिण्डों के बीच की दूरी आदि की नाप के अतिरिक्त दूरदर्शक से एकत्रित प्रकाश को रश्मिविश्लेषक यंत्र में डालकर पिण्डों की रासायनिक बनावट भी जानी जाती है। तारों की चमक की जानकारी भी दूरदर्शक यंत्र से लिए गये फ़ोटोग्राफ़ों का अध्ययन करके प्राप्त करते हैं। वस्तुतः दूरदर्शक ही आधुनिक ज्योतिषी का प्रधान यंत्र है। यही उसकी आँख है। आकाश सम्बन्धी अधिकांश ज्ञान इसी की सहायता से सेउ प्राप्त हुआ है।

दर्पण क्यों?

दर्पणों में एक अवगुण यह होता है कि क़लई कुछ ही महीनों में मंद पड़ जाती है और इसलिए उन पर बारबार क़लई करनी पड़ती है। इसी कारण से छोटे यंत्र बराबर तालयुक्त ही बनाये जाते हैं। परंतु बड़े दूरदर्शक सब दर्पणयुक्त ही बनते हैं क्योंकि एक तो बहुत बड़े तालयुक्त दूरदर्शक बन नहीं सकते, और जो बन भी सकते हैं वे उसी शक्ति के दर्पणयुक्त दूरदर्शक के मुक़ाबले बहुत मँहगे पड़ते हैं। ४० इंचवाले वर्तमान तालयुक्त दूरदर्शक से बड़ा इसी जाति का दूसरा कोई दूरदर्शक बना सकने की संभावना वर्तमान समय में नहीं जान पड़ रही है। इसका ताल अपने ही बोझ से थोड़ा-सा लच जाता है। वस्तुतः यह बहुत ही थोड़ा लचता है, पर सूक्ष्म निरीक्षणों में इतने की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अधिक बड़े तालों में इस कारण और भी कठिनाई पड़ेगी। फिर ताल जितना ही बड़ा होता है वह उतना ही मोटा भी होता है और मोटे ताल में से गुज़रने में बहुत-सा प्रकाश नष्ट हो जाता है।

दर्पणों में रंग-दोष नहीं होता। वे इच्छानुसार मोटे बनाये जा सकते हैं; उनके सहारे के लिए उनके पीछे इच्छानुसार टेक आदि भी लगाये जा सकते हैं; उनमें केवल एक ही पृष्ठ को सच्चा करना पड़ता है, आदि। उनमें ये अनेक गुण हैं। अब चाँदी की क़लई के बदले अल्युमिनियम की क़लई करने की रीति का आविष्कार कर लिया गया है और यह क़लई कुछ बरसों तक चल जाती है। इसलिए बार-बार क़लई करने का भी झंझट अब उतना असुविधाजनक नहीं रह गया है। इन्हीं सब कारणों से वैज्ञानिकों का ध्यान इस समय बड़े दर्पणयुक्त दूरदर्शक बनाने की ओर आकर्षित हुआ है।
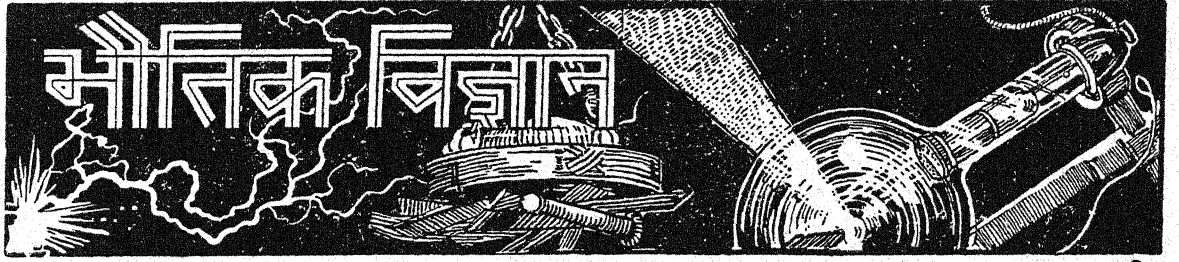
आलोक-रश्मियों में इन्द्रधनुष के रंग

अभी तक हमने आलोक-रश्मियों के साधारण परावर्त्तन तथा आवर्त्तन का अध्ययन किया है। इस अध्याय में हम आलोक की श्वेत रश्मियों का विश्लेषण करेंगे और तब हम देखेंगे कि सूर्य के रथ में जुते हुए सात घोड़ों से हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों का क्या अभिप्राय था।

हमारे चारों तरफ़ रंग-बिरंगी वस्तुएँ दिखाई देती हैं। हरी-हरी दूब, रंग-बिरंगे फूल, चटकीले रंगोंवाली तितली और सुनहली रेखा से मण्डित सन्ध्या के बादल, सभी मन को मोह लेते हैं। किन्तु सूर्यास्त के उपरान्त रात्रि के अन्धकार में इनके चटकीले रंग पर भी जैसे कालिमा का आवरण पड़ जाता है। श्वेत आलोक में ही ये रंग देखे जा सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि विभिन्न वस्तुओं का रंग उन वस्तुओं पर पड़नेवाले प्रकाश पर निर्भर है। श्वेत आलोक में सभी रंग निखर आते हैं। किन्तु लैम्प में यदि लाल रंग की चिमनी फ़िट कर दी जाय, तो इस लाल रोशनी में सफ़ेद वस्तु लाल दीखेगी, लाल वस्तु लाल किन्तु हरी वस्तु एकदम काली दीखेगी। रंग स्वयं कोई पदार्थ नहीं है। अपारदर्शी वस्तुएँ अपने धरातल से विशेष आलोक-रश्मियाँ परावर्त्तित करती हैं—ये ही परावर्त्तित आलोक-रश्मियाँ हमारी आँखों में प्रवेश करने पर हमें विभिन्न रंगों का अनुभव कराती हैं। कुछ रश्मियाँ लाल रंग का अनुभव कराती हैं, कुछ हरे और कुछ पीले का। वैज्ञानिकों ने देखा कि श्वेत आलोक की सहायता से हर रंग की वस्तुओं को हम देख सकते हैं, अतः उन्होंने यह अनुमान निकाला कि श्वेत आलोक में प्रत्येक रंग की आलोक-रश्मियाँ मिली हुई जान पड़ती हैं, तभी तो हरे, पीले या लाल रंग के धरातल पर श्वेत आलोक जब पड़ता है तो ठीक उसी रंग की आलोक-रश्मि उस श्वेत प्रकाश में से परावर्त्तित होकर बाहर को लौट जाती है; शेष रंगों की आलोक-रश्मियाँ उस वस्तु में जज़्ब हो जाती हैं। सफ़ेद रंग की वस्तुएँ अवश्य ही समान रूप से तमाम रंग की आलोक-रश्मियों को परावर्त्तित करती हैं तथा काली दीखनेवाली वस्तुएँ श्वेत प्रकाश के अन्तर्गत तमाम रंगों को अपने में पूर्णतया जज़्ब कर लेती हैं।

श्वेत रंग के अन्तर्गत तमाम विभिन्न रंग मौजूद हैं—इस नई खोज का श्रेय सर आइज़क न्यूटन को प्राप्त है। पिछले अध्याय में लेन्स द्वारा आलोक-रश्मियों के आवर्त्तन का उल्लेख हमने विस्तृत रूप से किया है। लेन्सयुक्त यंत्रों में तत्कालीन वैज्ञानिकों ने एक अद्भुत बात देखी। लेन्स द्वारा बने हुए तमाम चित्रों के हाशियों में रंग का पुट नज़र आ जाता, यद्यपि मूल वस्तुओं में रंग नाममात्र को भी न था। पहले तो न्यूटन ने सोचा कि लेन्स की गढ़न में दोष होने के कारण बिम्ब में रंग का पुट आ गया है। अतः उसने बड़ी सावधानी के साथ लेन्स को पूर्णतया सही तौर पर खरादा, फिर भी बिम्ब का रंग-दोष दूर न हुआ। अब सर आइज़क न्यूटन ने मनोयोग-पूर्वक आवर्त्तन के रंगदोष की समस्या को हल करने का प्रयत्न आरंभ किया।

न्यूटन ने निम्नलिखित ढंग पर अपना सुप्रसिद्ध प्रिज़्म (त्रिपार्श्व) वाला प्रयोग किया थाः—

एक अँधेरे कमरे की खिड़की के दरवाज़े में न्यूटन ने एक नन्हा-सा सूराख़ किया। इस सूराख़ के रास्ते से सूर्य की पतली-सी आलोक-रश्मि अँधेरे कमरे में प्रवेश करती थी। कमरे में तख्ती 'स' पर वह रश्मि एक उजला-सा गोल बिम्ब बनाती थी। अब न्यूटन ने इस आलोक-रश्मि के मार्ग में काँच के त्रिपार्श्व को इस प्रकार रक्खा कि त्रिपार्श्व का शीर्ष नीचे की ओर पड़े। तुरन्त ही यह आलोक-रश्मि ऊपर को मुड़ गई; साथ ही अकेले एक
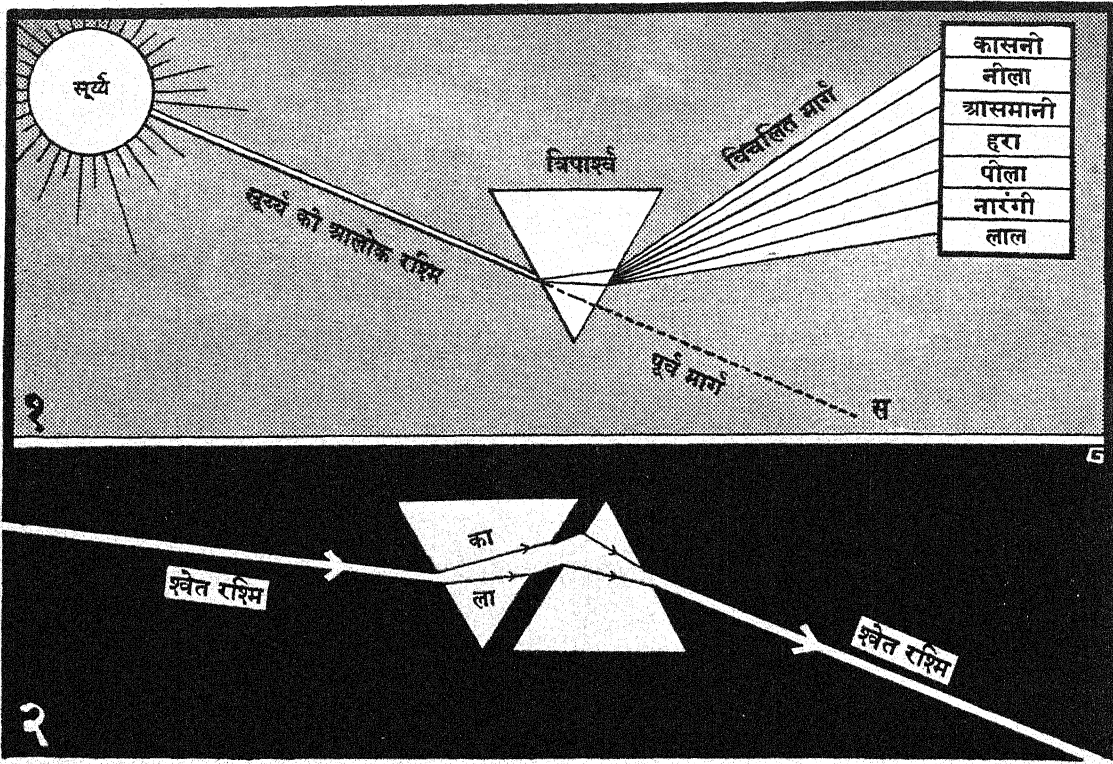
न्यूटन के आलोक-सम्बन्धी प्रयोग

१. इस चित्र में काँच के त्रिपार्श्व द्वारा श्वेत आलोक-रश्मि का सात विभिन्न रंगों में बिखरना दिखलाया गया है। २. इस चित्र में प्रथम त्रिपार्श्व द्वारा विस्तरित होने पर श्वेत रश्मि के विभिन्न रंग द्वितीय त्रिपार्श्व द्वारा पुनः एकत्रित हो जाते हैं और अंत में फिर श्वेत रश्मि ही मिलती है (अगले पृष्ठ का मैटर देखिये)।

धवलविन्दु के बजाय उससे पाँच गुना लम्बा सतरंगी बिम्ब उस तख्ती पर मिला। सबसे नीचे लाल रंग, फिर नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला और कासनी सबसे ऊपर। त्रिपार्श्व की स्थिति देखने से यही निष्कर्ष निकला कि नीले और कासनी रंग की रश्मियों में विचलन सबसे अधिक थी, तथा लाल में सबसे कम।

अब देखिये न्यूटन ने अपने इस प्रयोग के नतीजे का विश्लेषण किस योग्यता के साथ और कितने सुसंगठित तौर पर किया। सबसे पहले उसे इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ना था—श्वेत रश्मि फैलकर भिन्न रंगों में कैसे व्यक्त हो सकी? उसने सोचा कदाचित् ऐसा इसलिए दीख रहा है कि त्रिपार्श्व से गुज़रनेवाली श्वेत रश्मि-पुंज के निचले भाग को काँच की कम दूरी तय करनी पड़ती है, तथा ऊपरी भाग को अधिक। इसी कारण ऊपरवाली रश्मि में विचलन अधिक होता है तथा नीचेवाली में कम। अपने इस विचार की जाँच करने के लिए उसने एक रश्मि को त्रिपार्श्व के पतले भाग में से गुज़रने दिया और दूसरी को पेंदे के पासवाले भाग से। किन्तु दोनों ही दशा में रश्मियों का फैलाव बराबर रहा। अतः न्यूटन का उपर्युक्त विचार ग़लत निकला।

न्यूटन ने फिर सोचा सम्भव है रश्मि में फैलाव तथा रंगदोष त्रिपार्श्व (प्रिज़्म) के काँच की ख़राबी के कारण हो। उसने भिन्न-भिन्न काँच के बने हुए त्रिपार्श्वों के साथ प्रयोग किया, हर बार उसे उसी क्रम से सातों रंग के बिम्ब मिले। उसने विचारा यदि धवल प्रकाश का सतरंगी रश्मियों में परिवर्त्तित होना त्रिपार्श्व के काँच के दोष के कारण है, तो एक त्रिपार्श्व के बजाय दो त्रिपार्श्व के प्रयोग करने पर तो उपर्युक्त असर दूना हो जाना चाहिए। न्यूटन ने पहले त्रिपार्श्व के बगल में ठीक उसी साइज़ और उसी कोण का एक दूसरा त्रिपार्श्व उलटकर रक्खा। इन दोनों त्रिपार्श्वों में से गुज़रने पर आलोक-रश्मि में न तो कोई रंग ही नज़र आया और न उससे बने बिम्ब में फैलाव ही। यह बिम्बबिन्दु 'स' से हटा अवश्य था किन्तु साइज़ और रूपरंग में यह बिल्कुल वैसा ही था,
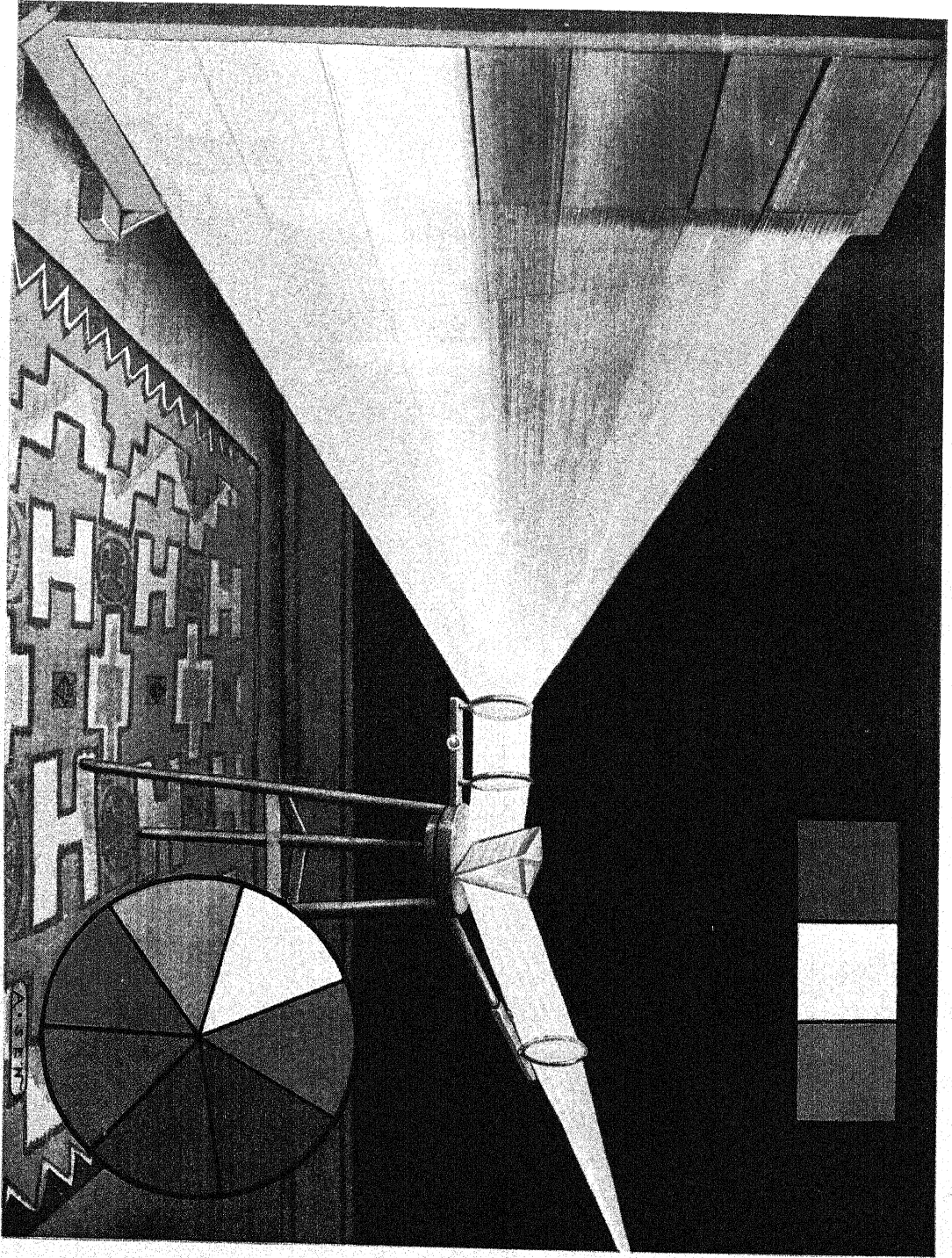
काँच के त्रिपार्श्व द्वारा श्वेत आलोक-रश्मि का सात विभिन्न रंगों में बिखरना

जैसा बिम्ब एक भी त्रिपार्श्व के न रहने पर तख्ती के 'स' बिन्दु पर बना था। अतः न्यूटन का यह ख्याल भी प्रयोग की कसौटी पर सही न उतरा।

न्यूटन ने अब तीसरा हल निकाला—उसने सोचा सम्भव है त्रिपार्श्व में से गुज़रने पर आलोक-रश्मियों में वक्रता आ गई हो। भिन्न-भिन्न वक्रता के साथ ये तख्ती को छूती हैं, इस कारण उनके बिम्ब में फैलाव आ गया है। न्यूटन ने तख्ती को भिन्न-भिन्न दूरी पर रखकर सतरंगी बिम्ब की लम्बाई नापी तो देखा कि दूरी के अनुपात में ही सतरंगी बिम्ब की लम्बाई भी घटती-बढ़ती है। इसके अर्थ हुए कि आवर्त्तित रश्मियाँ अब भी सीधी रेखाओं का मार्ग अनुसरण कर रही हैं—इनमें किसी क़िस्म की वक्रता का समावेश लेशमात्र भी नहीं हो पाया है। न्यूटन का यह हल भी सही न साबित हो सका।

अन्त में न्यूटन ने त्रिपार्श्व द्वारा प्राप्त हुए सतरंगी बिम्ब के प्रत्येक रंग की आलोक-रश्मि की परीक्षा करने की सोची। तख्ती में पहले उसने एक पतला सूराख़ उस स्थान पर बनाया जहाँ लाल रंग का बिम्ब बन रहा था—इस सूराख़ के रास्ते लाल रंग की आलोक-रश्मि तख्ती की दूसरी ओर निकली। इसे न्यूटन ने एक दूसरे त्रिपार्श्व में से होकर गुज़रने दिया, उसने देखा कि लाल रश्मि उस त्रिपार्श्व के पेंदे की ओर मुड़ गई। सावधानी के साथ न्यूटन ने लाल रश्मि की विचलन की मात्रा नाप ली। तदुपरान्त एक-एक करके न्यूटन ने सातो रंग की रश्मियों के साथ यही प्रयोग दुहराया। हर बार त्रिपार्श्व के उसी बिन्दु पर रश्मि आपतित कराई जाती, तथा आपतन कोण भी वही रक्खा जाता, ताकि विचलन की मात्रा की तुलना ठीक रूप से की जा सके। इस प्रयोग के अंत में यह निष्कर्ष निकला कि लाल रंग से पीले हरे रंग, और फिर ज्यों-ज्यों हम कासनी रंग की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों इनका विचलन बढ़ता जाता है।

अब न्यूटन को अपने इस विचित्र प्रयोग का रहस्य समझ में आया। उसने स्पष्ट देखा कि श्वेत आलोक वास्तव में भिन्न रंग की आलोक-रश्मियों के संयोग से बना है। त्रिपार्श्व में से गुज़रने पर भिन्न-भिन्न रंग की रश्मियों में विचलन भी भिन्न मात्रा में होता है, फलस्वरूप ये विभिन्न रंग की रश्मियाँ भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करती हैं—इस क्रिया में इनका विश्लेषण हो जाता है। आवर्त्तित रश्मि इसी कारण सतरंगी रूप धारण करती है, तथा फैल भी जाती है।

प्रथम त्रिपार्श्व द्वारा आवर्त्तित होने के उपरान्त सात रंगों में विभाजित हो जाने पर ये रश्मियाँ जब द्वितीय त्रिपार्श्व में से गुज़रती हैं, तो द्वितीय त्रिपार्श्व का शीर्ष उलटा होने के कारण इन रश्मियों में पहले की विपरीत दिशा में विचलन होता है। चूँकि द्वितीय त्रिपार्श्व का कोण प्रथम त्रिपार्श्व के कोण के बराबर ही है, इस कारण द्वितीय त्रिपार्श्व द्वारा उत्पन्न हुआ विचलन प्रथम त्रिपार्श्व के विचलन के बराबर ही होता है। अतः सातो रंग की रश्मियाँ पुनः एक ही मार्ग पर आ जाती हैं—पुनः इनका संयोग होने पर हमें श्वेत आलोक की रश्मि मिल जाती है।
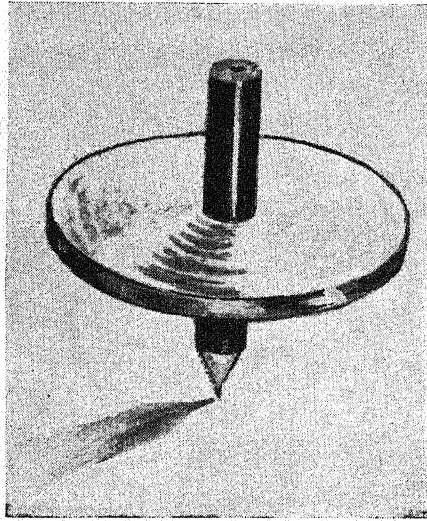
सात रंगों के संयोजन से श्वेत आलोक
फिरकी की सतह कई पट्टियों में बँटी हुई है। ये पट्टियाँ इन्द्रधनुष के रंग में रँगी गयी हैं। तेज़ी से नाचती हुई फिरकी सफ़ेद दीखती है।

इस सिलसिले में हम एक मनोरंजक प्रयोग कर सकते हैं। १२ इंच व्यास के नाप का एक वृत्ताकार दफ़्ती का टुकड़ा लीजिये। केन्द्र से परिधि की ओर रेखाएँ खींचकर वृत्त को २८ बराबर भागों में बाँट दीजिए। अब प्रत्येक ख़ाने को क्रम से लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीले और कासनी रंग में रँगिये। इस प्रकार वृत्त पर सतरंगी के चार सेट क्रम से दीखेंगे। इस दफ़्ती को तेज़ी के साथ केन्द्रस्थित कीली के चारों ओर घुमाइए जिस प्रकार कुम्हार का चाक घूमता है, ठीक उसी प्रकार। दफ़्ती का वृत्ताकार टुकड़ा भूरा सफ़ेद दीखेगा। दृष्टिस्थिरता के कारण ही सतरंगी दफ़्ती हमें सफ़ेद दिखलाई पड़ती है। हमारे दृष्टिपटल पर वाह्य वस्तुओं का बिम्ब $\frac{१}{१०}$ सेकण्ड तक स्थिर रहता है। बिजली चमकती है तो उसकी चमक हमारी आँखों में कुछ देर तक बनी रहती है। जिस समय दफ़्ती तेज़ी के साथ घूमती है, लाल रंग का बिम्ब हमारी आँखों के दृष्टिपटल से मिटने नहीं पाता,

कि पीला भाग सामने आ जाता है, फिर हरा। इस प्रकार $\frac{1}{10}$ सेकण्ड के अन्दर सातो रंग के बिम्ब हमारे दृष्टिपटल पर बन जाते हैं, और उनका संयोग होने पर हमें भूरे सफ़ेद रंग का भान होता है। एकदम निर्मल श्वेत रंग इस प्रयोग में हमें कभी नहीं दिखलाई दे सकता, इसके दो कारण हैं। एक यह कि दफ़्ती पर पुते हुए रंग शुद्ध नहीं हैं, दूसरा यह कि वृत्त के भिन्न-भिन्न भागों से प्रकाश का एक अंश ही हमारी आँखों में पहुँचता है, जबकि निर्मल श्वेत धरातल के प्रत्येक भाग से आलोक की पूर्ण मात्रा हमारी आँखों में पहुँचती है।

इन प्रयोगों ने रंग सम्बन्धी अनेक समस्याओं को भी सुलझाया। हम देख चुके हैं कि अपारदर्शी वस्तुओं में रंग का भान उनके धरातल द्वारा परावर्त्तित रश्मियों द्वारा होता है। अब पारदर्शी वस्तुओं की भी व्याख्या की गई। पारदर्शी वस्तुओं को उनके अन्दर से गुज़रनेवाली आलोक-रश्मियों की सहायता से हम देख पाते हैं। अतः रंगयुक्त पारदर्शी वस्तुएँ श्वेत रश्मियों में से केवल एक विशेष रंग की रश्मि को अपने में से गुज़रने देती हैं, शेष को वे अपने अन्दर जज़्ब कर लेती हैं। उनके अन्दर से गुज़र-कर जो रश्मि हमारी आँखों में पहुँचती है, वैसा ही रंग उस वस्तु में हमें मौजूद दीखता है। न्यूटन के प्रयोग में प्राप्त हुए सतरंगी पट्टी को यदि हम गहरे लाल रंग के शीशे में से देखें, तो सतरंगी पट्टी के अन्य भाग हमें न दीखेंगे—केवल लाल रंगवाला हिस्सा हमें दिखाई देगा। क्योंकि लाल के अतिरिक्त शेष कोई भी रंग इस लाल शीशे को पार नहीं कर सकता।

अपारदर्शी वस्तुओं का रंग बहुत कुछ उन पर पड़ने-वाले प्रकाश पर निर्भर करता है। श्वेत वर्ण की वस्तु श्वेत आलोक में (दिन के प्रकाश में) सफ़ेद दीखेगी। लाल रोशनी में लाल दीखेगी, हरी में हरे रंग की और कासनी रंग के प्रकाश में कासनी रंग की। क्योंकि सफ़ेद वस्तु हर रंग की आलोक-रश्मि को समान रूप से परावर्त्तित कर देती है।

सफ़ेद काग़ज़ पर काली स्याही से मानव-आकृति का एक ख़ाका बनाइए। अब लाल रोशनाई से इस व्यक्ति की भौंहें तथा दाढ़ी बना लीजिए। अँधेरे कमरे में रक्त वर्ण के आलोक से देखने पर ऐसा जान पड़ेगा कि लाल रंग की पृष्ठभूमि पर काले रंग की मानव-आकृति बनी हुई है। इस बार दाढ़ी और भौंहों का पता न होगा, क्योंकि काग़ज़ तथा दाढ़ी और भौंहों दोनों से परावर्त्तित होने-वाली रश्मियों का रंग समान रूप से लाल है। रक्त वर्ण के आलोक के स्थान पर श्वेत वर्ण का आलोक इस चित्र पर डालिये—सफ़ेद पृष्ठभूमि पर आकृति का ख़ाका काला दीखेगा तथा दाढ़ी और भौंहें लाल रंग की। यह दिल-चस्प प्रयोग हमें बतलाता है कि रात के कृत्रिम प्रकाश में विभिन्न रंगों का सही मिलान करना सम्भव नहीं है। सूर्य के आलोक की अपेक्षा दूकान की रात की रोशनी में लालिमा यदि अधिक हुई तो सफ़ेद कपड़े की मिलान हम धोके में आकर हलके गुलाबी रंग के कपड़े के साथ कर जायँगे।

वायु रंगहीन पदार्थ है, फिर भी आकाश नील वर्ण दिखलाई पड़ता है। वायुमण्डल में ऊँचे बहुत दूर तक धूल और पानी के नन्हें-नन्हें कण लाखों-करोड़ों की संख्या में मौजूद हैं। ये कण सूर्य-रश्मियों में से नीले रंग की रश्मियों को लाल रंग की अपेक्षा अधिक परा-वर्त्तित करते हैं। फलस्वरूप परावर्त्तित प्रकाश में आसमान हमें नीला दिखलाई पड़ता है। किन्तु सूर्यास्त या सूर्यो-दय के समय सूर्य-रश्मियों को वायुस्तरों की एक मोटी तह को पार करना होता है। इस क्रिया में सूर्य के श्वेत आलोक का बहुत-कुछ नीला अंश इधर-उधर परावर्त्तित हो जाता है अतः हमारी आँखों तक पहुँचनेवाले आलोक में रक्त वर्ण का ही बाहुल्य होता है। इसी कारण सूर्यो-दय और सूर्यास्त पर क्षितिज रक्त वर्ण दीखता है। ऊर्ध्वा-काश के अभियानकारियों का कहना है कि चौदह-पंद्रह मील की ऊँचाई पर आकाश में दिन की दुपहरी के समय भी चारों ओर घना अँधेरा छाया रहता है। नील वर्ण का आकाश वहाँ कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ता। इसका कारण यह है कि वहाँ आकाश इतना निर्मल है कि वायुमण्डल में धूलि या जल के एक भी कण मुश्किल से पाये जाते हैं जो नीले प्रकाश को परावर्त्तित कर सकें।

प्रातः में यदि सूर्य की ओर पीठ करके आप धुएँ को देखें, तो धुआँ आपको नीले वर्ण का दीखेगा। अब आगे बढ़कर सूर्य की ओर अपना मुँह कर लीजिए, इस प्रकार कि धुआँ आपके और सूर्य के बीच में हो। धुआँ अब रक्त वर्ण का दीखेगा, क्योंकि उसमें से छनकर जो सूर्य-रश्मियाँ आपकी आँखों तक पहुँच रही हैं उनमें से नीला प्रकाश बहुत कुछ अंशों में इधर-उधर परावर्त्तित हो चुका है।

कुहरे में मोटर ड्राइवर बावजूद तेज़ हेड लाइट के भी सामने देख नहीं सकता। नीले रंग का बादल सामने

नज़र आता है, क्योंकि कुहरे के अन्दर के धूलि और पानी के कण नीले रंग की रश्मियों का परावर्त्तन प्रचुरता से करते हैं। इस परेशानी से बचने के लिए ड्राइवर अपनी हेडलाइट के सामने पीले रंग का काँच लगा देता है। हेडलाइट के प्रकाश में अब नीला रंग है ही नहीं जो कुहरे से परावर्त्तित हो। अतः कुहरा नीले रंग के बादल के रूप में अब नहीं दीखता। यह अब पारदर्शी हो जाता है—ड्राइवर कुछ दूर तक सामने की चीज़ें देख सकता है क्योंकि पीली और लाल किरणें कुहरे को आसानी के साथ भेद सकती हैं।

रंग-भेद पहचानने के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं किन्तु यग-हेल्म-होल्ट्ज की थ्योरी ही विज्ञान-जगत् में मान्य समझी जाती है। इस थ्योरी के अनुसार हमारा दृष्टिपटल तीन मुख्य रंगों का अनुभव कर सकता है, नीला, हरा और लाल। अन्य रंगों को अनुभूति इन्हीं मुख्य रंगों के आपस में विभिन्न अनुपात में संयोग करने से प्राप्त होती है। शरीर-विज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार हमारे दृष्टिपटल का सम्बन्ध तीन मुख्य स्नायुओं से है—इनमें से एक केवल लाल रंग की अनुभूति कर सकता है, दूसरा हरे रंग की और तीसरा नीले रंग की। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनकी ये तीनों स्नायुएँ भली भाँति काम नहीं करतीं। यदि लाल रंग महसूस करनेवाली स्नायु काम नहीं करती हैं, तो ऐसे व्यक्ति को रंग-ज्ञान केवल हरे और नीले रंगों के बल पर होगा। दृष्टि की इस ख़राबी "रंग के अन्धेपन" पर हिन्दी विश्व-भारती के पिछले अंकों में पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला गया है।
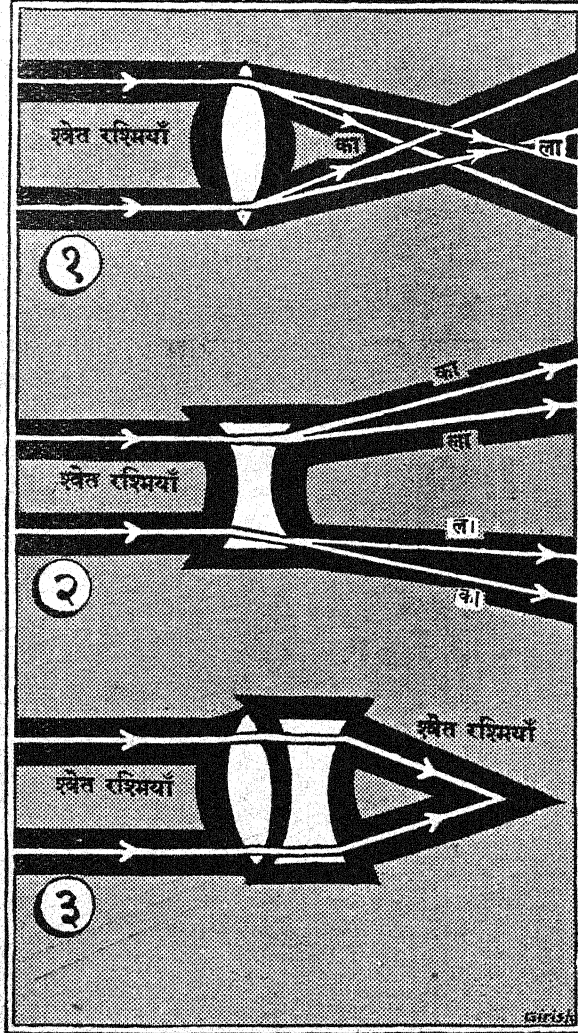
लेन्स के रंग-दोष को दूर करना

कासनी रश्मि में लाल की अपेक्षा विचलन अधिक होने के कारण उन्नतोदर लेन्स से गुज़रने पर श्वेत रश्मि का कासनी रंग 'क' पर और लाल रंग 'ला' पर केन्द्रित हो जाता है। नतोदर में ठीक इसका उल्टा होता है। अतः दोनों को मिलाने पर ऐसा प्रबन्ध हो सकता है कि श्वेत किरणों की कासनी और लाल रंगों का विचलन समान हो—ऐसी दशा में लेन्स से गुज़रने पर किरणों में रंग-दोष न आयगा।

लेन्सयुक्त यंत्रों के रंग-दोष को दूर करने के लिए भी समुचित उपाय अब मालूम हो गये हैं। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि उन्नतोदर लेन्स कई त्रिपार्श्वों से बना हुआ माना जा सकता है। श्वेत किरणें जब लेन्स द्वारा आवर्त्तित होती हैं तो श्वेत आलोक के सातो रंग की रश्मियाँ इस क्रिया में बिखर पड़ती हैं, क्योंकि इनमें से प्रत्येक के विचलन की मात्रा भिन्न होती है। इसी कारण लेन्स द्वारा बने हुए बिम्ब के किनारे रंगीन होते हैं। न्यूटन के प्रयोग में पहले त्रिपार्श्व के बाद ही दूसरा त्रिपार्श्व उलटी तरह लगाने से बिखरी हुई रश्मियाँ पुनः एकत्रित होकर श्वेत रश्मि में परिणत हो गई थीं। लेन्सयुक्त यंत्रों में रंग-दोष दूर करने के लिए इसी तरकीब को काम में लाते हैं—उन्नतोदर लेन्स से सटाकर नतोदर लेन्स रख देते हैं। इस नतोदर लेन्स का काँच तथा इसके धरातल की वक्रता ऐसी चुनते हैं कि आवर्त्तित रश्मि का रंग-दोष तो दूर हो जाय, किन्तु पूर्व मार्ग से वे विचलित अवश्य रहें। महँगे दाम के केमरे और दूरबीन तथा अनुवीक्षण यंत्रों के उपदृश्य और उपनेत्र लेन्सों में प्रत्येक

चार-चार पाँच-पाँच लेन्सों को एक दूसरे से सटाकर तैयार किये जाते हैं ताकि उनका रंग-दोष पूर्णतया दूर हो जाय।

आलोक-रश्मियों के बारे में हमने इतनी पर्य्याप्त जानकारी हासिल कर ली है, कि अब इन्द्रधनुष की भी हम भली भाँति व्याख्या कर सकते हैं। पानी की बूँदें जब आसमान से गिरती होती हैं, और सूर्य जब हमारी पीठ की ओर होता है, तभी हम इन्द्रधनुष देख पाते हैं। ऊँचे-ऊँचे झरनों से गिरते हुए पानी की फुहारों में भी इन्द्रधनुष के सातो रंग कभी-कभी दिखलाई पड़ते हैं। इलाहाबाद के विद्युत् पावर-हाउस में पानी को ठण्डा करने के लिए कई एक फ़ौवारे बने हुए हैं। इन फ़ौवारों में प्रायः इन्द्रधनुष के सातो रंग दिखलाई देते हैं।

आकाश में दिखलाई देनेवाले इन्द्रधनुष की स्थिति तथा उसका फैलाव दर्शक की स्थिति और सूर्य की क्षितिज में ऊँचाई पर निर्भर करती हैं। जल की बूँदों पर पड़नेवाली सभी सूर्य-रश्मियों से इन्द्रधनुष नहीं बनता। इन्द्रधनुष का निर्माण केवल उन रश्मियों द्वारा होता है जो आवर्त्तन तथा सम्पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त पानी की बूँदों से पुनः वापस लौटकर दर्शक की आँखों में प्रवेश करती हैं। १६७५ ई० में सर्वप्रथम न्यूटन ने इन्द्रधनुष की सही व्याख्या की थी।

चित्र में पानी की बूँद परिवर्द्धित रूप से दिखलाई गई है। श्वेत आलोक-रश्मि बूँद के भीतर प्रवेश करने पर आवर्त्तित होती है—चूँकि सातो रंग का आवर्त्तन समान
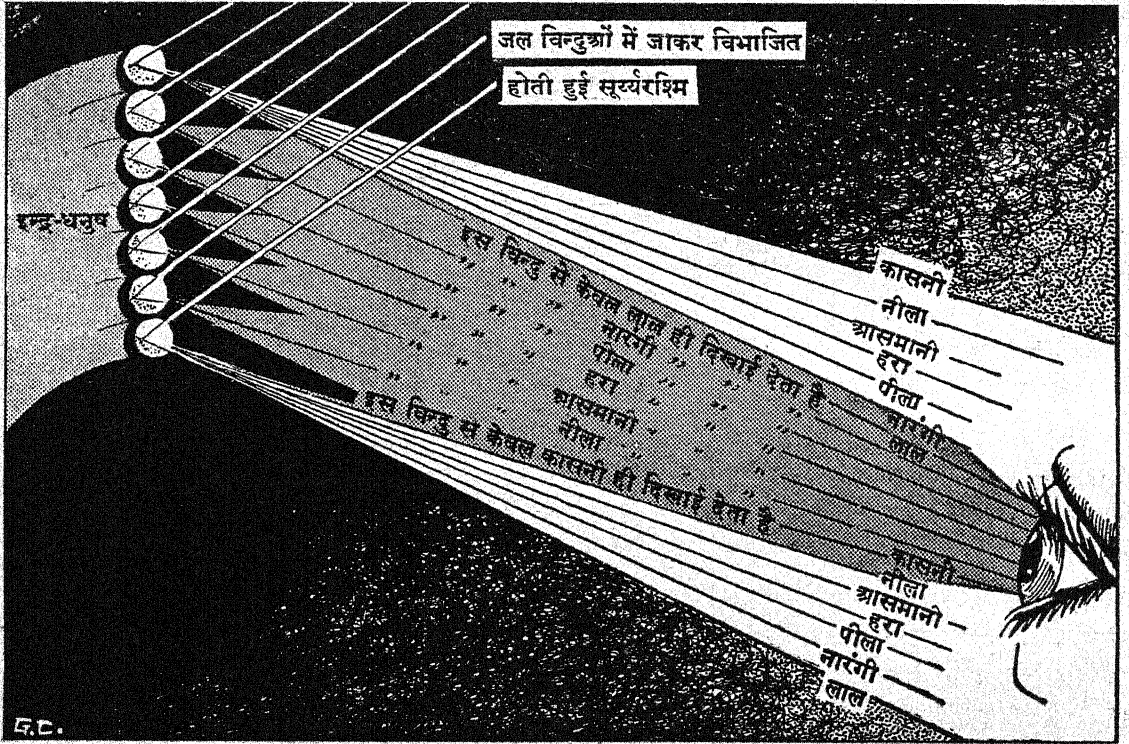
जलविन्दुओं की अवली से इन्द्रधनुष का निर्माण

प्रत्येक विन्दु से आवर्त्तन तथा पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त जब आलोक की श्वेतरश्मि बाहर निकलती है, तो यह सात रंगों में विभाजित हो जाती है—सबसे ऊपर कासनी, फिर नीला, आसमानी आदि और सबसे नीचे लाल। दर्शक की आँखों में एक ही बूँद से बिखरी हुई सातो रंग की रश्मियाँ प्रवेश नहीं कर पातीं। सबसे ऊपरवाली बूँद से लाल रंग, उससे नीचेवाली बूँद से नारंगी, उससे नीचेवाली से पीला, फिर हरा और सबसे नीचेवाली बूँद से कासनी रंग की किरणें दर्शक की आँखों में पहुँचती हैं। इस चित्र से हम बख़ूबी समझ सकते हैं कि प्रत्येक दर्शक अपना निज का ही इन्द्रधनुष देखता है। दो व्यक्ति एक ही समय एक ही इन्द्रधनुष को नहीं देख सकते—दोनों भिन्न-भिन्न इन्द्रधनुष देखते हैं।
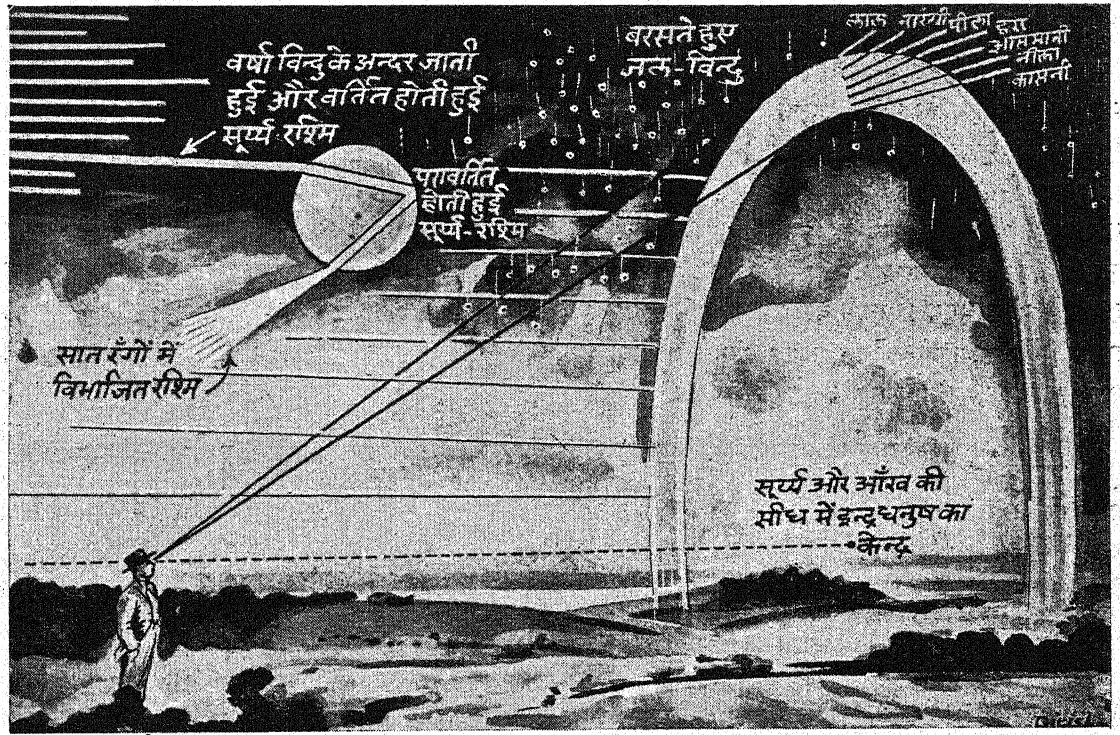
इन्द्रधनुष का निर्माण

चित्र में ऊपर बाईं ओर बड़े आकार में दिखलाया गया है, किस प्रकार श्वेतरश्मि बूँद के अन्दर प्रवेश करने पर पूर्ण परावर्त्तन करती है। पहले आवर्त्तन, फिर पूर्ण परावर्त्तन और अन्त में आवर्त्तन—इन्हीं के फलस्वरूप श्वेतरश्मि सात रंगों में बिखर पड़ती है।

मात्रा में नहीं होता, अतएव बूद के भीतर प्रवेश करते ही श्वेत आलोक-रश्मि के सातो रंग बिखर पड़ते हैं। ये रंग की किरणें बूँद के भीतरी नतोदर धरातल पर इस प्रकार आपतित होती हैं कि इनका पूर्ण परावर्त्तन हो जाता है—वापस लौटते समय जब ये बूँद से बाहर निकलती हैं, तो एक बार फिर इनका आवर्त्तन होता है। एक के नीचे दूसरी बूँदों से निकली हुई रंग की किरणें दर्शक की आँखों में प्रवेश करने पर उसे इन्द्रधनुष का बोध कराती हैं। चित्र से प्रकट है कि दो दर्शक एक ही इन्द्रधनुष कभी भी देख नहीं पाते। प्रत्येक दर्शक अपना निज का इन्द्रधनुष देखता है।

आकाश में दिखलाई देनेवाले इन्द्रधनुष के वृत्त का केन्द्र उस रेखा पर पड़ता है जो सूर्य और दर्शक की आँख को मिलाती है। वे तमाम बूँदें जो इस रेखा के संग ४० अंश का कोण बनाती हैं, दर्शक की आँखों में कासनी 'ग की रश्मियाँ भेजती हैं, तथा वे बूँदें जो उक्त रेखा के संग ४२ अंश का कोण बनाती हैं, दर्शक की आँखों में रक्तवर्ण की रश्मियाँ पहुँचाती हैं। इन दोनों के दर्मियान की बूँदों से अन्य रंग की रश्मियाँ दर्शक की आँखों में पहुँचती हैं। इस प्रकार इन्द्रधनुष के सातो रंग दर्शक को दीख जाते हैं—सबसे ऊपर लाल रंग, फिर नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला और सबसे नीचे कासनी रंग।

स्पष्ट है कि सूर्य क्षितिज के जितने निकट होगा, इन्द्र-धनुष उतना ही बड़ा दीखेगा, और आकाश में सूर्य जितना ऊपर उठेगा, उतना ही क्षितिज से नीचे इन्द्र-धनुष का केन्द्र भी गिरेगा, अतएव दर्शनीय इन्द्रधनुष का साइज़ भी छोटा होता जायगा। यहाँ तक कि सूर्य की क्षितिज के ऊपर कोणीय ऊँचाई जब ४१ अंश पहुँच जाती है, तब इन्द्रधनुष बिलकुल अदृश्य हो जाता है। सन्ध्याकाल में जब सूर्य ढलते-ढलते क्षितिज के क़रीब पहुँचता है, तब पूर्व दिशा में फिर इन्द्रधनुष दिखलाई दे

सकता है। इस समय सूर्य की ऊँचाई क्षितिज से ४१ अंश से कम होती है। यही कारण है कि इन्द्रधनुष प्रातः और सन्ध्या को ही दिखलाई देते हैं। दोपहर को इन्द्रधनुष पृथ्वी पर से कभी नहीं दिखलाई देते।

कभी-कभी मुख्य धनुष के ऊपर उसी के समानान्तर एक दूसरा इन्द्रधनुष भी दिखलाई पड़ता है। इस गौण इन्द्रधनुष के रंग उतने चटकीले नहीं होते, जितने मुख्य धनुष के। साथ ही इस धनुष में रंगों का क्रम भी उलटा होता है। गौण धनुष में सबसे बाहर कासनी फिर नीला आसमानी और सबसे भीतर लाल रंग होता है। यह धनुष उन रश्मियों द्वारा बनता है, जो पानी की बूँद में दो बार पूर्ण परावर्त्तन प्राप्त करके बाहर निकलते हैं। बूँद की भीतरी सतह से दो परावर्त्तन होने के कारण ही रंगों का क्रम उलट जाता है, अतः लाल किरणें उन बूँदों से हमारी आँखों में पहुँचती हैं, जो सूर्य और हमारी आँख को मिलाने वाली रेखा के साथ ५१ अंश का कोण बनाती हैं, और कासनी रंग की रश्मियाँ ५३ अंश के कोण पर स्थित बूँदों से आती हैं। कभी-कभी पृथ्वी पर से एक तीसरा धनुष भी इन दोनों के ऊपर दीख जाता है, किन्तु उसमें चटकीलापन बहुत ही कम होता है।

प्रायः वायुयान-संचालक दिन में ऊँचे आकाश में जब उड़ते होते हैं तो उन्हें पूर्ण इन्द्रधनुष दीख जाता है, क्योंकि अब इस दशा में क्षितिज धनुष को भंग नहीं कर पाता। मुख्य इन्द्रधनुष जो इस दशा में पूर्ण वृत्त दीखता है, कभी-कभी गौण वृत्त द्वारा परिवेष्ठित भी रहता है।

स्वयं कमरे के अन्दर आप इन्द्रधनुष के पूर्ण वृत्त का निर्माण कर सकते हैं। कमरे को एकदम अँधेरा कर दीजिए। अब खिड़की को खोलकर उसमें एक मोटी दफ़्ती का टुकड़ा फ़िट कर दीजिए कि भीतर आलोक-रश्मियों के आ सकने के लिए साँस न रहे। दफ़्ती के बीच में एक नन्हा-सा सूराख़ कर लीजिए और सूर्य की रश्मियों को दर्पण द्वारा कमरे के अन्दर इसी सूराख़ के रास्ते फेंकिये। इस प्रयोग के लिए गोल पेंदेवाली बोतल के अन्दर भरा हुआ पानी एक बड़ी बूँद-जैसा काम करेगा। आवर्त्तन और पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त वह आलोक-रश्मि विभिन्न रंगों में विभाजित हो जाती है, और दफ़्ती पर इन्द्रधनुष का पूर्ण वृत्त हमें दिखलाई देता है। वृत्त के बाहरी हाशिये का रंग लाल रहता है।
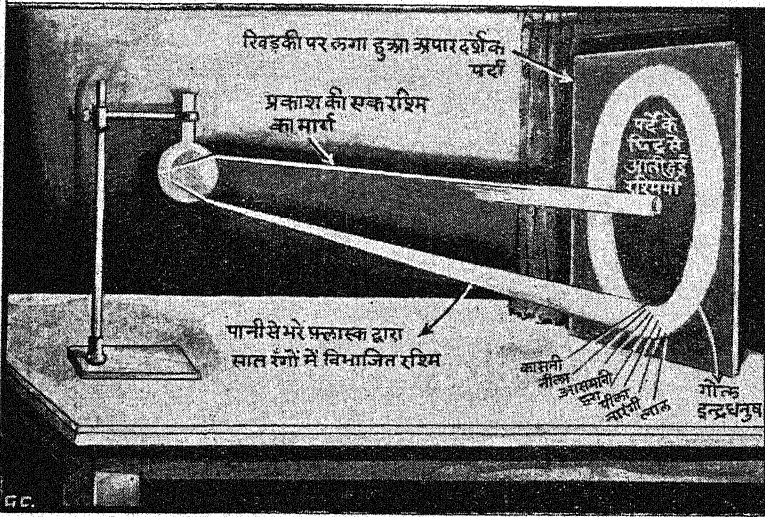
प्रयोगशाला में इन्द्रधनुष का निर्माण

दफ़्ती के पीछे से आनेवाली सूर्य-रश्मि पानी और फ्लास्क के अन्दर से दो आवर्त्तन तथा एक पूर्ण परावर्त्तन के उपरान्त पीछे जब लौटती है, तो यह इन्द्रधनुष के सात रंगों में विभाजित हो चुकी होती है।

चन्द्रमा की किरणें भी वास्तव में सूर्य्य की ही रश्मियाँ हैं, जो चन्द्रमा के धरातल से परावर्त्तित होकर हम तक पहुँचती हैं। अतः सूर्य्य-रश्मियों के सभी नियम चन्द्र-किरणों पर भी लागू होंगे। अनुकूल परिस्थितियों में पूर्णिमा की रात को आकाश में कभी-कभी इन्द्रधनुष दिखलाई दे जाते हैं। अवश्य चन्द्रकिरणों द्वारा निर्मित इन्द्रधनुष में चटकीलापन कम होता है, क्योंकि इन किरणों में सूर्य्य-रश्मियों के मुकाबले में आलोक की मात्रा कम होती है।

कभी-कभी सूर्य्य या चन्द्रमा को परिवेष्ठित करता हुआ सतरंगी हैलो (Halo) भी आसमान में दिखलाई पड़ता है। ऊँचे आकाश में ओले के नन्हें-नन्हें कणों से गुज़रने पर श्वेतरश्मि के रंगों का विस्तरण हो जाता है और पृथ्वी पर से हमें सूर्य्य या चन्द्रमा के चारों ओर इन्द्रधनुष के रंग का वृत्त दिखाई पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेत आलोक अनेक रंगीन रश्मियों के संयोग से बना है।

मूलतत्त्वों में सामाजिक व्यवस्था

विभिन्न परमाणुओं की संयोजन-शक्ति की कथा

मानवसमाज में विवाह तथा सहवास संबंधी अनेक प्रथाएँ प्रचलित हैं। अधिकांश एक पुरुष और एक स्त्री ही विवाह द्वारा संयुक्त होते हैं; प्रायः एक पुरुष एक साथ एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करता है; और कभी-कभी एक स्त्री भी कई पतियों से एक साथ विवाह करती है। इसके अतिरिक्त स्त्री-स्त्री और पुरुष-पुरुष का प्रेम सहवास भी मनुष्य-समाज में प्रचलित है। परमाणुओं के संसार की विवाह और सहवास-प्रथाएँ भी मानव-प्रथाओं से कुछ कम रोचक नहीं हैं। अंतर केवल यही होता है कि परमाणु निर्जीव होते हैं, अतः उनका पारस्परिक संयोग प्रकृति के अटूट नियमों के अनुसार ही संभव होता है। उदाहरणार्थ, एक ही राजा की सैकड़ों पटरानियों का दृष्टांत तत्त्वों के जगत् में न मिल सकेगा। उसमें तो परमाणुओं का संयोग सरल संख्याओं में ही होता है, जो आठ से अधिक कभी नहीं बढ़तीं। डाल्टन ने अपने परमाणुवाद में यही तो कहा है (दे० पृष्ठ १५३४ नियम नं० ६)।

मूलतत्त्वों के विभिन्न परमाणुओं की संयोजन-शक्ति निश्चित रहती है। इसी संयोग-शक्ति के अनुसार वे परस्पर अपना संबंध स्थापित करते हैं। इस शक्ति की माप का उपाय वैज्ञानिकों ने इस प्रकार निकाला है—हाइड्रोजन सबसे हलका तत्त्व है, इसके अतिरिक्त वह उन तत्त्वों में है जिसकी संयोजन-शक्ति सबसे कम होती है। अतएव वैज्ञानिकों ने हाइड्रोजन की संयोजन-शक्ति को १ माना है और इसी इकाई के आधार पर अन्य मूल-तत्त्वों की संयोजन-शक्तियों को निर्धारित कर दिया है। उदाहरणार्थ हाइड्रोजन का एक परमाणु क्लोरीन के एक परमाणु से संयुक्त होकर नमक का अम्ल बनाता है, अतएव क्लोरीन की भी संयोजन-शक्ति १ हुई; हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और ऑक्सिजन के एक परमाणु के संयोग से पानी बनता है, अतएव ऑक्सिजन की संयोजन-शक्ति २ हुई, आदि। यही नहीं, अब क्लोरीन और ऑक्सिजन के आधार पर इनसे संयुक्त होनेवाले अन्य तत्त्वों की शक्तियाँ भी निश्चित हो सकती हैं; यथा क्लोरीन के एक परमाणु और सोडियम के एक परमाणु के संयोग से नमक का उत्पादन होता है, अतः सोडियम की संयोजन-शक्ति १ हुई; क्लोरीन के दो परमाणु कैल्शियम के १ परमाणु से संयुक्त होकर कैल्शियम क्लोराइड उत्पन्न करते हैं, अतएव कैल्शियम
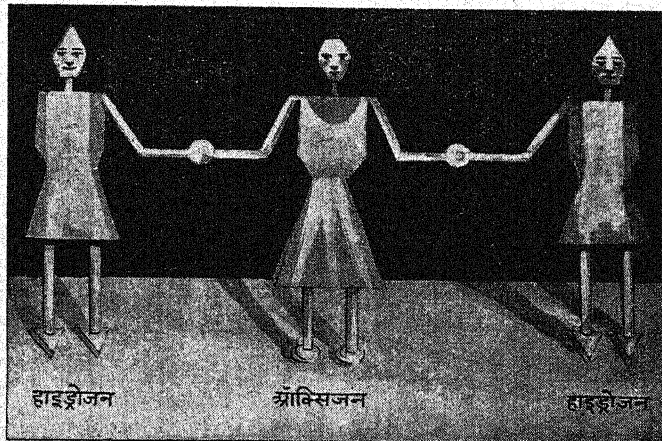
पानी का एक अणु

हाइड्रोजन के दो परमाणुओं और ऑक्सिजन के एक परमाणु के संयोग से पानी का एक अणु बनता है। अतः ऑक्सिजन की संयोजन-शक्ति दो हुई। इनकी एक-एक बाहु एक-एक संयोजन-शक्ति की द्योतक है।

की शक्ति २ हुई; ऑक्सिजन के एक परमाणु और मैग्नेशियम के एक परमाणु के संयोग से मैग्नेशियम ऑक्साइड बनता है, अतः मैग्नेशियम की संयोजन-शक्ति २ हुई। मूलतत्त्वों के समाज में भी संयोग और सहवास के साथ-ही-साथ वियोग, विच्छेद, अपहरण आदि की भी उतनी ही बाहुल्यता है; अतएव केवल संयोग से ही नहीं वरन् इस बात से भी किसी तत्त्व की संयोजन-शक्ति निश्चित की जाती है कि अपहरण के पश्चात् उसका एक परमाणु किस संयोजन-शक्ति के कितने परमाणुओं को स्थानांतरित कर देता है। जैसे, जस्ते का एक परमाणु हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से क्लोरिन का अपहरण करके हाइड्रोजन के दो परमाणुओं को निकाल बाहर कर देता है; अतः जस्ते की संयोजन-शक्ति दो हुई। इसी प्रकार नाना विधियों से समस्त मूल तत्त्वों की संयोजन-शक्ति निश्चित की जा चुकी है। इसी संयोजन-शक्ति को अंग्रेज़ी में वैलेन्सी (valency) कहते हैं। संक्षेप में किसी तत्त्व की संयोजन-शक्ति उस संख्या को कहते हैं जिससे यह प्रकट होता है कि उस तत्त्व का एक परमाणु हाइड्रोजन के कितने परमाणुओं से संयुक्त होता अथवा उसके कितने परमाणुओं को स्थानांतरित करता है।
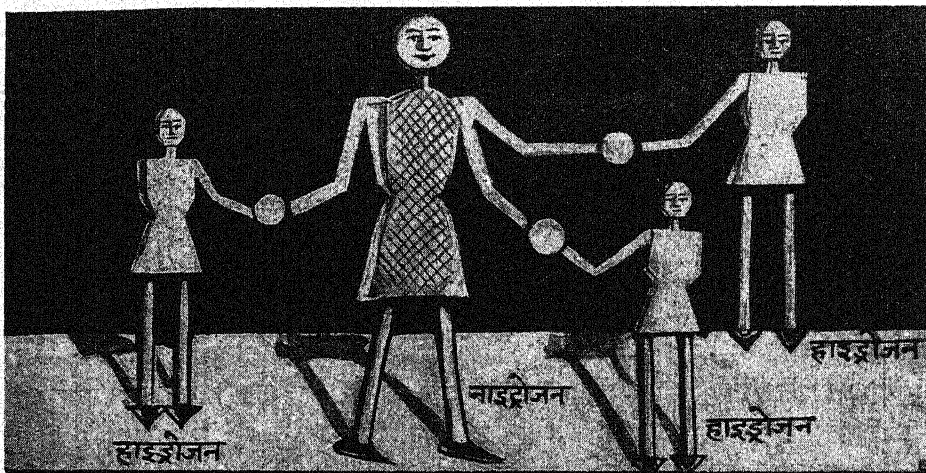
त्रिभुजी नाइट्रोजन

नाइट्रोजन का एक परमाणु हाइड्रोजन के तीन परमाणुओं से संयुक्त होकर अमोनिया बनाता है। अतएव नाइट्रोजन की संयोजन-शक्ति ३ हुई।

संयोजन-शक्ति और सहजीवन

ऑक्सीजन की संयोजन-शक्ति २, नाइट्रोजन की ३, और कार्बन की ४ होती है। हम चित्र-सूत्रों में इन संयोजक-शक्तियोंको इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं—

–O–

–N– (ऊपर एक रेखा सहित) –C– (ऊपर और नीचे एक-एक रेखा सहित)
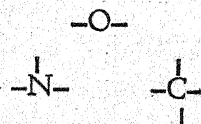
संकेतों से लगी हुई रेखाएँ परमाणु की संयोजन-शक्ति
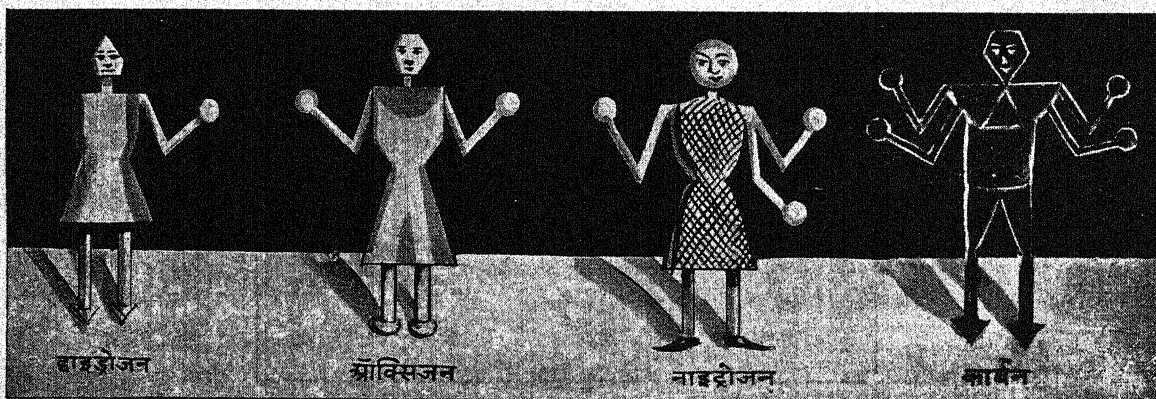
कुछ तत्त्वों के परमाणु

हाइड्रोजन एकशक्तिक, ऑक्सिजन द्विशक्तिक, नाइट्रोजन त्रिशक्तिक और कार्बन चतुर्शक्तिक है। ऊपर की पुतलियाँ मानों इन्हीं तत्त्वों के परमाणु हैं। जब तक इनकी संयोजन-शक्ति पूर्ण रूप से परितृप्त नहीं हो जाती, इन्हें एकाकी रखना कठिन होता है।

को प्रदर्शित करती हैं। यहाँ पर दिए हुए चित्र में परमाणुओं को पुतलीरूप और उनकी संयोजक-शक्ति को बाहुरूप देकर तथ्यों की मनोरंजकता को और भी बढ़ा दिया गया है। आप घबड़ाइए न, मूलतत्त्वों में सहस्र-बाहु कोई नहीं होते। अधिक-से-अधिक आपको अष्ट-भुजी मूर्त्ति तक का परिचय हो सकता है, वह भी शायद ही कभी। प्रकृति में इन परमाणुओं का अस्तित्व एकाकी रूप में नहीं रहता, कारण अकेले में उनकी संयोजन-शक्ति परितृप्त नहीं रहती। हाँ, रासायनिक क्रिया में वे अवश्य भाग लेते है, परन्तु उसके पश्चात् ही संयोग द्वारा वे अपनी संयोजन-शक्ति को संतृप्त करके स्थिर रूप में आ जाते हैं। किसी मूलतत्त्व के परमाणुओं को जब तक किसी अधिक आकर्षक तत्त्व के परमाणुओं के साथ अनुकूल दशाओं में मिलने का अवसर नहीं दिया जाता, तब तक वे आपस में ही अनेक प्रकारों से सहजीवन व्यतीत करते हैं। जिन समूहों में किसी तत्त्व के परमाणु इस प्रकार साथ-साथ रहते हैं, उन्हीं को उस तत्त्व के अणु कहते हैं। यह समसंयोग भी संयोजन-शक्ति के अनुसार ही होता है। अधिकतर गैसों के अणुओं में दो-दो परमाणु रहते हैं। यहाँ पर दिए हुए हाइड्रोजन, ऑक्सिजन तथा नाइट्रोजन के अणुओं के पुतलीरूप चित्र बड़े ही सार्थक हैं। इनसे स्पष्टतः प्रदर्शित हो जाता है कि संयोजन-भुजाओं द्वारा दो-दो परमाणु किस प्रकार परस्पर संबद्ध रहते हैं। वैज्ञानिक लोग संकेतों और संयोजन-बंधनों द्वारा इन्हीं अणुओं के चित्र-सूत्र इस प्रकार अंकित करते हैं—

$$H{-}H \qquad O{=}O \qquad N{\equiv}N$$
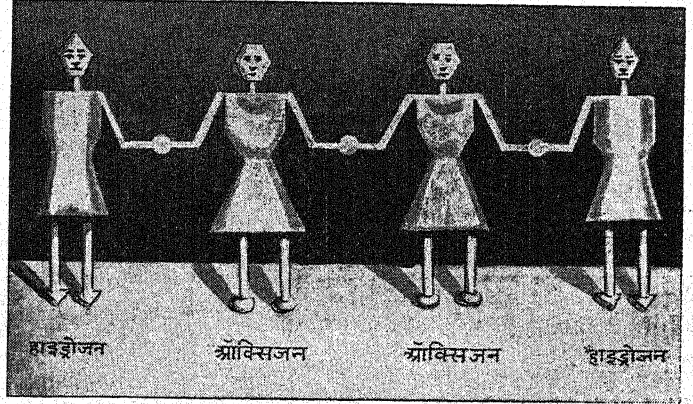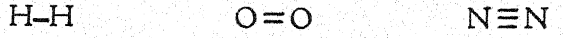
हाइड्रोजन पराँक्साइड में हाइड्रोजन और ऑक्सिजन

ऑक्सिजन के स्त्री परमाणुओं की परस्पर मित्रता द्वारा संयुक्त होने के कारण दो दम्पतियों का सम्मिलित जीवन हाइड्रोजन परॉक्साइड में चलता है। किन्तु यह सम्मिलित जीवन अधिक स्थायी नहीं होता। छोटे-छोटे विघ्नों (जिनका उल्लेख हाइड्रोजन परॉक्साइड के अध्याय में आ चुका है) के पड़ने पर भी इनमें से ऑक्सिजन का एक परमाणु इस सम्मिलित जीवन को त्यागकर बाहर चला जाता है, और तुरन्त ही ऑक्सिजन का बचा हुआ परमाणु हाइड्रोजन के दोनों परमाणुओं के साथ स्थायी सम्बन्ध स्थापित करके पानी का एक अणु बना लेता है।
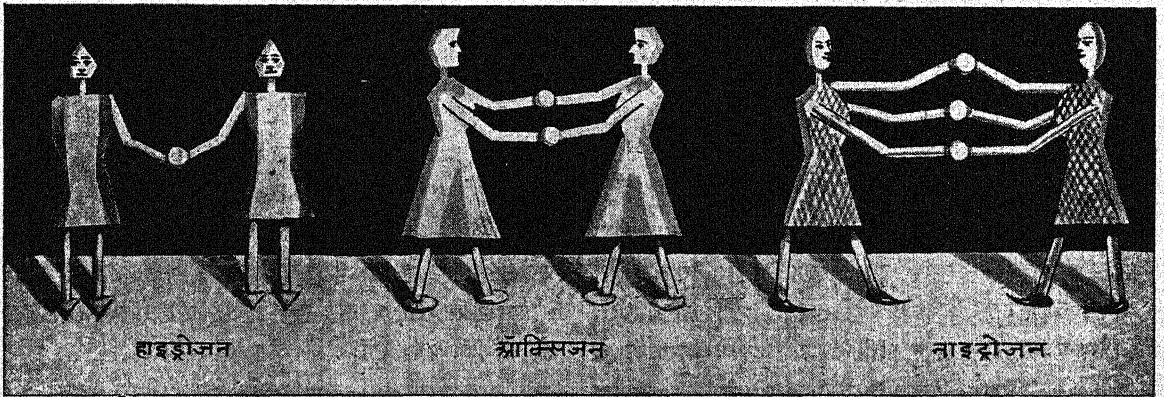
पुतलीरूप में हाइड्रोजन, ऑक्सिजन और नाइट्रोजन के अणुओं की कल्पना

इन अणुओं में परमाणुओं की संयोजन-शक्ति परितृप्त है। अतएव प्रकृति में इन तत्त्वों का स्थायी अस्तित्व इन्हीं अणुओं के रूप में पाया जाता है।

ओज़ोन गैस के एक अणु में ऑक्सिजन के तीन परमाणु परस्पर संबद्ध रहते हैं। ओज़ोन का चित्र-सूत्र इसीलिए इस प्रकार लिखा जाता है—
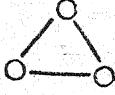
द्रव तथा ठोस तत्त्वों के एक-एक अणु में अनेकानेक परमाणु संयोजन-शक्ति द्वारा परस्पर संबद्ध रहते हैं। इनकी संख्या इतनी अधिक रहती है कि अनेक तत्त्वों के विषय में अभी तक वह निश्चित नहीं की जा सकी है। कार्बन और पारद के अणु इसी श्रेणी में आते हैं।

मूलतत्त्वों में धातुएँ पुरुषों के समान और अधातु स्त्रियों के समान होते हैं। मानव समाजमें, विशेषतः जब पुरुषों और स्त्रियों का समागम स्वतंत्रतापूर्वक नहीं होता, पुरुष-पुरुष और स्त्रियाँ - स्त्रियाँ मित्रता की भावनाओं द्वारा संबद्ध रहते हैं, और यह आवश्यक नहीं कि ये पुरुष अथवा ये स्त्रियाँ एक ही कुटुंब की हों। मूलतत्त्वों के समाज में भी, विशेषतः स्त्री-तत्त्वों में, यही बात पाई जाती है। कार्बन और ऑक्सिजन दोनों अधातु तत्त्व हैं, किंतु दोनों तत्परतापूर्वक अपनी संयोजन-शक्ति के बल द्वारा संबद्ध होकर एक सम्मिलित जीवन व्यतीत करते हैं। कार्बन चतुर्शक्तिक है और ऑक्सिजन द्विशक्तिक, अतएव कार्बन का एक परमाणु ऑक्सिजन के दो परमाणुओं से संयुक्त होकर कार्बन-डाइऑक्साइड का एक अणु बना देता है। कभी-कभी ऑक्सिजन के परमाणु पर्याप्त संख्या में प्राप्त न होने पर कार्बन का एक परमाणु ऑक्सिजन के एक ही परमाणु से संबद्ध हो पाता है। इस दशा में कार्बन-डाइऑक्साइड (O=C=O) न बनकर कार्बन-मोनॉक्साइड (C=O) गैस ही उत्पन्न होती है। अतएव कार्बन-मोनॉक्साइड के अणु में कार्बन की केवल दो संयोजन-शक्तियों का ही उपयोग होता है। वास्तव में उसकी दो शेष शक्तियाँ अतृप्त रहती हैं। इसीलिए कार्बन-मोनॉक्साइड ऑक्सिजन में तत्परतापूर्वक जलकर कार्बन-डाइऑक्साइड में परिवर्त्तित हो जाती है। इसी प्रकार अनेक अन्य तत्त्व भी एक से अधिक संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणस्वरूप गंधक हाइड्रोजन सल्फ़ाइड में २, सल्फ़र डाइऑक्साइड में ४, और सल्फ़र ट्राइऑक्साइड में ६, संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित करते हैं।

स्त्री-तत्त्वों के ही संयोग से इस प्रकार की जो समजातीय अणुरूप टोलियाँ बनती हैं, उनमें दृढ़ता नहीं होती है। इस प्रकार के समजातीय अणुओं के पारस्परिक संयोग-शक्ति को उसे सम - संयोजन-शक्ति (Covalency) कहते हैं।

कार्बन-डाइऑक्साइड

कार्बन-डाइऑक्साइड के एक अणु में कार्बन नामक एक चतुर्भुजी स्त्री ऑक्सिजन नामक दो द्विभुजी स्त्रियों से संबद्ध है।

परमाणुओं में विवाह

अधातुओं और धातुओं के संयोग से लवणों का बनना मानों स्त्री और पुरुष को विवाह द्वारा दंपति के रूप में संयुक्त कर देना है। सोडियम और क्लोरीन के संयोग से नमक क्या बनता है मानों उनका विवाह हो जाता है। इस विवाह में पाणिग्रहण होते ही धातु धन-विद्युत् रूपी और अधातु ऋणविद्युत् रूपी प्रेम से आविष्ट हो जाते हैं और इसी प्रेम द्वारा वे परस्पर आकर्षित और सन्निकट रहते हैं। इसी प्रकार के विद्युदाविष्ट परमाणुओं को आयन (ion) कहते हैं। इसीलिए इस प्रकार विवाह करानेवाली संयोजन-शक्ति को हम विद्युत्-संयोजन-शक्ति (Electrovalency) कहते हैं। इस संयोजन-शक्ति द्वारा

संयुक्त परमाणु विद्युदाकर्षण द्वारा निकट तो रहते हैं, तथापि उनका अस्तित्व आयनों के रूप में स्वतंत्र रहता है। सम-संयोजन-शक्ति द्वारा संयुक्त परमाणुओं की भाँति वे परस्पर संबद्ध नहीं रहते। बिजली के प्रभाव से ये आयनिक अवयव विद्युत्-ध्रुवों की ओर अर्थात् धन आयन ऋण-ध्रुव (negative pole) की ओर और ऋण आयन धन-ध्रुव (positive pole) की ओर खिंच जाते हैं, अतएव विद्युत्-संयोजन-शक्ति द्वारा बने हुए यौगिकों को ध्रुवीय यौगिक (polar compounds) कहते हैं। नमक ध्रुवीय यौगिक है, किंतु कार्बन डाइऑक्साइड अध्रुवीय यौगिक (non-polar compound) होता है। कार्बन-डाइऑक्साइड में परमाणुओं का न तो अस्तित्व ही पृथक् होता है और न वे विद्युदाविष्ट ही होते हैं। स्त्रियों-स्त्रियों के बीच में वह विद्युत्-मय स्त्री-पुरुष प्रेम भला कहाँ? मूलतत्त्वों में विवाह परमाणुओं की संयोजन-शक्तियों के अनुसार ही होता है। जस्ता की संयोजन शक्ति २ होती है, और क्लोरीन की एक, अतएव जस्ता का एक परमाणु क्लोरीन के २ परमाणुओं से संयुक्त होकर ज़िङ्क-क्लोराइड ($Zn\ Cl_2$ अथवा $Cl{-}Zn{-}Cl$) बना देता है। अलुमीनियम की संयोगशक्ति ३ होती है, इसलिए वह क्लोरीन के ३ परमाणुओं से संयुक्त अलुमीनियम क्लोराइड ($Al\ Cl_3$ अथवा $Cl{-}Al{<}^{Cl}_{Cl}$) में परिणत होता है। टिन क्लोराइड में टिन का एक परमाणु क्लोरीन के ४ परमाणुओं से संयुक्त है, क्योंकि टिन की संयोजन-शक्ति ४ है। बहुधा अनुकूल अवसर न प्राप्त होने के कारण वह क्लोरीन के दो ही परमाणुओं से संयुक्त होता है, अतएव वह अवसरानुसार दो विभिन्न संयोजन-शक्तियाँ २ और ३
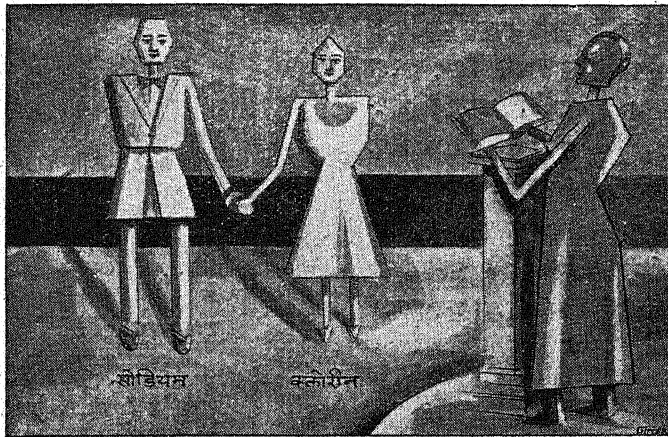
सोडियम क्लोराइड का एक अणु

सोडियम धातु के एक परमाणु का क्लोरीन अधातु के एक परमाणु से संयोग होने पर साधारण लवण अर्थात् सोडियम क्लोराइड का एक अणु बन जाता है। एडिनबरा विश्वविद्यालय के रसायन के प्रोफ़ेसर केण्डाल के अनुसार प्रकृति के पादड़ी ने इन दोनों का विवाह करा दिया है।

को प्रदर्शित करता है। निम्न लवण को स्टैनस क्लोराइड और उच्च लवण को स्टैनिक क्लोराइड कहते हैं। '–अस' और '–इक' क्रमशः निम्न और उच्च यौगिकों के लिए प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य धातुएँ भी एक से अधिक संयोजन-शक्तियों को प्रदर्शित करती हैं। लोहे की संयोजन-शक्ति फ़ेरस यौगिकों में २ और फ़ेरिक में ३ होता है। इस प्रकार के ध्रुवीय यौगिकों के आयनिक अवयवों को बहुधा 'मूलक' (radicals) कहते हैं। धातव अवयव को उसके धन-विद्युदाविष्ट होने के कारण धनमूलक कहते हैं, और अधातव अवयव को उसके ऋण-विद्युदाविष्ट होने के कारण, ऋणमूलक कहते हैं, और इन दोनों मूलकों की संयोजन-शक्ति को क्रमशः धन संयोजन-शक्ति और ऋण संयोजन-शक्ति के नाम से पुकारते हैं।

कुछ विशेष परमाणु-समूह भी धातुओं अथवा अधातुओं की भाँति धन अथवा ऋण संयोजन-शक्ति प्रदर्शित करते हैं। नाइट्रोजन के एक परमाणु और हाइड्रोजन के चार परमाणुओं का अमोनियम नामक समूह (NH_4) १ धन संयोजन-शक्ति प्रदर्शित करता है, मानों वह सोडियम-सरीखी धातु का एक परमाणु हो। ऐसे समूहों को यौगिक मूलक (compound radical) कहते हैं। अमोनियम का किसी पृथक् पदार्थ के रूप में अस्तित्व नहीं होता, किंतु अन्य ऋणमूलकों से संयुक्त होकर लवणों आदि का यह उत्पादन करता है। अमोनियम क्लोराइड (नौसादर) में मानों क्लोरीन अमोनियम मूलक से ही
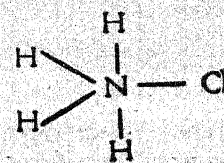
विवाह कर लेता है। उसमें नाइट्रोजन पाँच संयोजन-शक्तियों को काम में लाता है। हाइड्रोजन के साथ चार ऋण और क्लोरीन के साथ १ धन। इसी प्रकार अमोनियम-मूलक अन्य स्त्रीमूलकों से संयुक्त होकर नाना अमोनियम लवणों को उत्पन्न करता है।

ऋण जाति के मूलकों में नाइट्रेट (NO_3) में नाइट्रोजन के एक परमाणु और ऑक्सिजन के तीन होते हैं।

—O—N(=O)(=O)
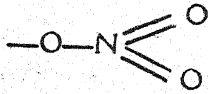
इसमें ऑक्सिजन के एक परमाणु की एक संयोजन-शक्ति को छोड़कर अन्य सब परमाणुओं की संयोजन-शक्तियाँ पूर्णतः परितृप्त रहती हैं। इसी ख़ाली संयोजन-शक्ति का उपयोग नाइट्रेट मूलक स्वयं अपने लिए करता है। पोटैशियम की संयोजन-शक्ति एक है, अतएव पोटैशियम नाइट्रेट (KNO_3) (शोरा) का यौगिक बनता है। ताँबे की संयोजन-शक्ति २ है, अतः ताम्र नाइट्रेट [$Cu(NO_2)_3$] में ताँबे का एक परमाणु नाइट्रेट के दो मूलकों से संयुक्त रहता है। पोटैशियम नाइट्रेट और ताम्र नाइट्रेट के चित्र-सूत्र हम इस प्रकार लिखते हैं—

K—O—N(=O)(=O)   Cu(—O—N(=O)(=O))(—O—N(=O)(=O))
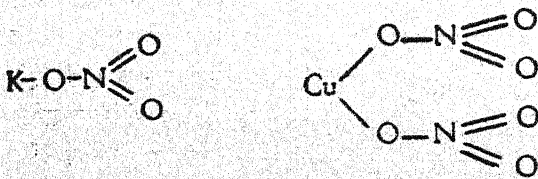
इसी प्रकार प्रायः सभी धातुओं के नाइट्रेट लवण होते हैं। सल्फेट ($=So_4$) एक अन्य यौगिक स्त्री-मूलक होता है, जिसकी संयोजन-शक्ति २ होती है। अतएव वह दो एक-शक्तिक अथवा एक द्वि-शक्तिक पुरुष परमाणु से संयुक्त होता है; और यदि पुरुष परमाणु त्रि-शक्तिक हुआ, तो दो परमाणुओं की संयोजन-शक्ति वही हुई जो तीन सल्फेटों की। अतः दो त्रिशक्तिक परमाणुओं का विवाह तीन सल्फेटों से हो जाता है। मानव-जाति में ऐसी विचित्र शादियाँ आपको न मिलेंगी। अब ज़रा एक-शक्तिक सोडियम, द्विशक्तिक मैग्नेशियम और त्रि-शक्तिक अलुमीनियम के सल्फेटों के चित्र-सूत्रों में परमाणुओं की अंतर्व्यवस्था पर विचार कीजिए—

(Na—O)(Na—O)>S(=O)(=O)   Mg<(O)(O)>S(=O)(=O)

$Na_2\ SO_4$
(सोडियम सल्फ़ेट)

$Mg\ SO_4$
(मैग्नेशियम सल्फ़ेट)

Al(—O—)(—O—)(—O—) ... S(=O)(=O) ×3 ... Al(—O—)(—O—)(—O—)

$Al_2(SO_4)_3$
(अलुमीनियम सल्फ़ेट)
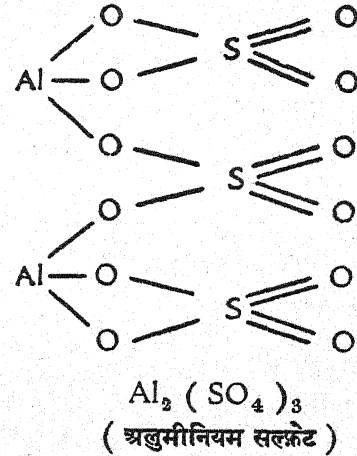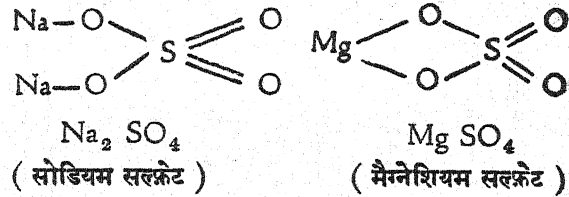
इस प्रकार के कुछ अन्य स्त्री (ऋण) यौगिक मूलक ये हैं—

कार्बोनेट (CO_3) द्विशक्तिक
नाइट्राइट (NO_2) एकशक्तिक
सल्फ़ाइट (SO_3) द्विशक्तिक
फ़ास्फ़ेट (PO_4) त्रिशक्तिक
ऐसेटेट ($CH_3\ CHO$) एकशक्तिक

हाइड्रॉक्सिल (OH अथवा —O—H) एक विशेष प्रकार का एकशक्तिक ऋणमूलक है, जो धातुओं से संयुक्त होकर हाइड्रॉक्साइड नामक क्षारीय यौगिकों की रचना करता है। वास्तव में क्षारों के विशेष गुण इसी मूलक के कारण होते हैं। उदाहरणार्थ, कास्टिक सोडा सोडियम हाइड्रॉक्साइड और चूने का क्षार कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड होता है—

Na—O—H   Ca<(O—H)(O—H)

NaOH
(कास्टिक सोडा)

$Ca(OH)_2$
(बुझा चूना)
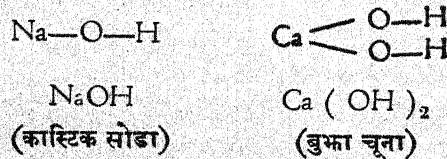
यौगिकों में हाइड्रोजन बहुरूपिये का काम करता है। कहीं तो, उदाहरणार्थ मीथेन (CH_4) गैस में, वह समसंयोजक-शक्ति प्रदर्शित करके उदासीन रूप धारण करता है; तो कहीं, जैसे सोडियम हाइड्राइड (NaH) में वह स्त्री (ऋणमूलक) रूप ग्रहण कर लेता है; परन्तु

हाइड्रोजन जब पुरुष-रूप धारण करके ऋणमूलकों से संयुक्त होता है, तो प्रायः अम्ल बनते हैं। धन विद्युदाविष्ट हाइड्रोजन आयन सभी अम्लों का आवश्यक अंग होता है। नींबू और नारंगी, आम और सेब आदि प्रायः सभी फलों में खट्टापन इसी हाइड्रोजन आयन के कारण होता है। सबसे महत्त्वपूर्ण तीन खनिज अम्ल हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड (हाइड्रोजन क्लोराइड HCl), नाइट्रिक ऐसिड (हाइड्रोजन नाइट्रेट HNO_3) और सल्फ़्यूरिक ऐसिड (हाइड्रोजन सल्फ़ेट H_2SO_4) होते हैं—

$$H{-}Cl, \quad H{-}O{-}N{\genfrac{}{}{0pt}{}{=O}{=O}}, \quad {\genfrac{}{}{0pt}{}{H{-}O}{H{-}O}}{>}S{\genfrac{}{}{0pt}{}{=O}{=O}}$$
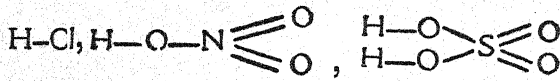
सिरके में ऐसेटिक ऐसिड (हाइड्रोजन ऐसेटेट $CH_3COO.H$) होता है—

$$H{-}\overset{\displaystyle H}{\underset{\displaystyle H}{C}}{-}C{\genfrac{}{}{0pt}{}{=O}{-O{-}H}}$$
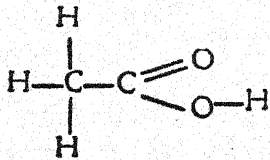
रासायनिक प्रतिक्रियाएँ

मानव समाज में प्रेम की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप न केवल संयोग ही, वरन् तलाक़ अथवा विच्छेद, अपहरण अथवा स्थानापत्ति (निकालकर जगह ले लेना) आदि घटनाएँ हुआ करती हैं। परमाणुओं का समाज भी इन घटनाओं से रिक्त नहीं है। परमाणुओं अथवा परमाणुसमूहों में होनेवाली इन प्रतिक्रियाओं को रासायनिक प्रतिक्रियाएँ कहते हैं। यह दुहराना अनावश्यक है कि ये सारी प्रतिक्रियाएँ संयोजन-शक्तियों के ही अनुसार होती हैं। यहाँ पर यह देख लेना भी असंगत न होगा कि ये रासायनिक प्रतिक्रियाएँ कितने प्रकार की होती हैं—

(१) संश्लेषण अथवा सरल संयोग—दो सरलतर अवयवों के परस्पर जुड़ जाने से जब कोई यौगिक बनता है, तो इसे संश्लेषण अथवा सरल संयोग कहते हैं। कार्बन के ऑक्सिजन में जलने पर कार्बन डाइऑक्साइड का बनना, हाइड्रोजन के ऑक्सिजन के साथ जलने पर पानी का बनना, और सोडियम के क्लोरीन के साथ संयुक्त होने पर नमक का बनना तथा नाइट्रोजन का हाइड्रोजन के साथ संयोग करके अमोनिया का बनना इसी प्रकार की प्रतिक्रिया के उदाहरण हैं।

(२) विश्लेषण अथवा सरल विच्छेदन—इस प्रकार की क्रियाओं में यौगिक सरलतर अवयवों में विच्छिन्न हो जाता है। बिजली की धारा के प्रभाव से पानी (दे॰ पृ॰ २७२) हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड, नमक आदि क्रमशः हाइड्रोजन और ऑक्सिजन, हाइड्रोजन और क्लोरीन, सोडियम और क्लोरीन आदि सरलतर अवयवों में विश्लिष्ट हो जाते हैं। पारदिक ऑक्साइड को ऊँचे तापक्रम पर गर्म करने से वह पारद और ऑक्सिजन में विच्छिन्न हो जाता है।

(३) स्थानापत्ति—इस रासायनिक क्रिया में किसी यौगिक से एक तत्त्व दूसरे को निकाल बाहर कर देता है और स्वयं उसी का स्थान ले लेता है। जस्ता हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से हाइड्रोजन की बीबियों क्लोरीनों को छीन लेता है और हाइड्रोजन बेचारे को निकलकर भागना पड़ता है। इस प्रकार जस्ते का एक परमाणु हाइड्रोजन के दो
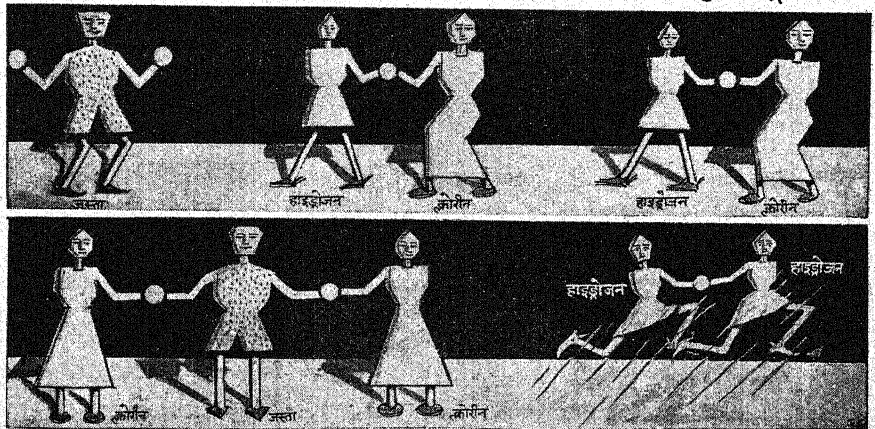
जस्ता की हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड के साथ प्रतिक्रिया

जस्ता हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड से मिलते ही अपनी तीव्रतर रासायनिक प्रीति द्वारा हाइड्रोजन की बीबियों क्लोरीनों का अपहरण कर लेता है और स्वयं उनका पति बन बैठता है। बेचारे हाइड्रोजन को गैस-रूप में भागना पड़ता है। दुर्बल हाइड्रोजन! अच्छा हुआ कि तुम निर्जीव हुए—तुम्हारे हृदय न हुआ! नहीं तो निराशा के कारण शायद तुम आत्मघात कर लेते!!

परमाणुओं को हटा देता है। जस्ते के एक परमाणु में उतनी ही संयोजन-शक्तियाँ होती हैं, जितनी हाइड्रोजन के दो परमाणुओं में; तथापि पुरुषत्व में जस्ता प्रबल पड़ता है! इसका कारण यह है कि जस्ते के परमाणु में धन-विद्युदाविष्ट होने की क्षमता हाइड्रोजन के दो परमाणुओं से अधिक होती है, अथवा यों कहिए कि जस्ते में हाइड्रोजन की अपेक्षा रासायनिक प्रीति अधिक होती है। कॉपर सल्फ़ेट (नीला थोथा) के घोल में लोहा छोड़ने से लोहे का सल्फ़ेट बनता है और ताँबा निकल पड़ता है, और सिल्वर नाइट्रेट के घोल में ताँबा छोड़ने से ताम्र नाइट्रेट बनता और चाँदी निकल पड़ती है। अतएव इन धातुओं में लोहा सबसे प्रबल, ताँबा उससे कम प्रबल और चाँदी सबसे कम प्रबल है। अधातुओं में क्लोरीन की ऋण-विद्युदाविष्ट होने की क्षमता ब्रोमीन से अधिक होती है, अतएव वह ब्रोमाइडों से ब्रोमीन को निकाल देती है।

(४) युग्म विच्छेदन—इस क्रिया में दो यौगिकों के अवयवों का विनिमय हो जाता है, मानों दो दंपति पति-पत्नियों का परिवर्त्तन कर लेते हैं। कितनी अप्रिय, लेकिन तत्त्वों के समाज में यह एक साधारण घटना है। उदाहरणार्थ, सिल्वर नाइट्रेट के घोल में पोटैशियम क्लोराइड छोड़ने से सिल्वर क्लोराइड अवक्षिप्त हो जाता है, और पोटैशियम नाइट्रेट घोल में रह जाता है—

$$Ag\,No_3 + KCl = Ag\,Cl + KNO_3$$

(५) आइसोमरिक अथवा अंतराणु परिवर्त्तन—किसी पदार्थ के अणु के भीतर संयोजन-शक्तियों के एक विभिन्न उपयोग और इसके फलस्वरूप उन्हीं परमाणुओं की व्यवस्था में अंतर हो जाने के कारण वह पदार्थ किसी दूसरे ही पदार्थ में बदल जाता है। इस विधि को आइसोमरिक अथवा अंतराणु परिवर्त्तन कहते हैं। अमोनियम सायनेट नामक पदार्थ के घोल को सुखाने पर वह यूरिया नामक एक नवीन पदार्थ में इस प्रकार बदल जाता है—

```
      H                        N<H
H\    |                       /   H
   >N—O—C≡N  ——→   O=C
H/    |                       \   H
      H                        N<H
```
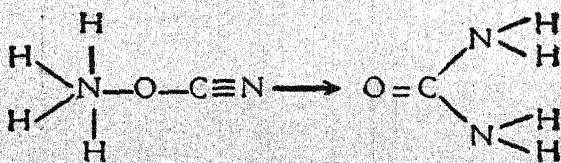
$NH_4\,OCN$ (अमोनियम सायनेट) $\qquad CO(NH_2)_2$ (यूरिया)

(६) बहुसमाणुसंयोजन (Polymerisation)—इस प्रकार की क्रिया में एक ही पदार्थ के अनेक अणु सीधे संयुक्त होकर एक अन्य ही पदार्थ को उत्पन्न कर देते हैं। ऐसेटिलीन गैस (C_2H_2) को रक्ततत नल में प्रवाहित करने पर वह बेञ्ज़ीन (C_6H_6) में परिणत हो जाती है—

```
                           H
                           |
                           C
                        //   \
                   H—C         C—H
3 H—C≡C—H ——→        ||          |
                   H—C         C—H
                        \    //
                           C
                           |
                           H
```
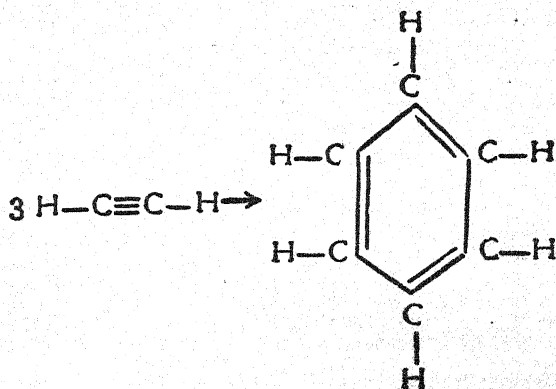
(ऐसेटिलीन) $\qquad$ (बेञ्ज़ीन)

उपसंहार

यदि आपको तत्त्वों के संकेत और उनकी संयोजन-शक्तियाँ ज्ञात हैं तो आपको उनके अनेक यौगिकों के सूत्र लिखने में कोई कठिनाई न पड़ेगी; और सूत्रों को लिख सकने पर रासायनिक समीकरणों को बनाने का कार्य भी सरल हो जायगा। रसायन के अध्ययन को प्रारंभ करनेवालों के लिए तो संयोजन-शक्ति वास्तव में कुंजी ही है। यदि आपको सूत्रों को बनाने में कठिनता पड़े तो इस विधि का उपयोग कीजिए—

मान लीजिए आपको यह ज्ञात है कि अलुमीनियम की संयोजन-शक्ति ३ और ऑक्सिजन की २ है। Al और O को कहीं पर पास-पास लिखिए। अब Al के नीचे उसकी संयोजन-शक्ति यानी ३ और O के नीचे इसी प्रकार २ लिख दीजिए। फिर ऊपर इन संयोजन-शक्तियों का लघुत्तमसमापवर्त्तक अर्थात् ६ नोट कर दीजिए। अब ६ में ३ का भाग देकर भजनफल २ को Al के साथ और ६ में २ का भाग देकर भजनफल ३ को O के साथ लगा दीजिए—

```
     ६
  Al₂ O₃
   ३   २
```
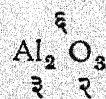
अंत में ऊपर और नीचे नोट किए हुए ६, ३ और २ को मिटा दीजिए। अलुमीनियम ऑक्साइड का सूत्र $Al_2\,O_3$ बन जायगा।

पृथ्वी की कहानी
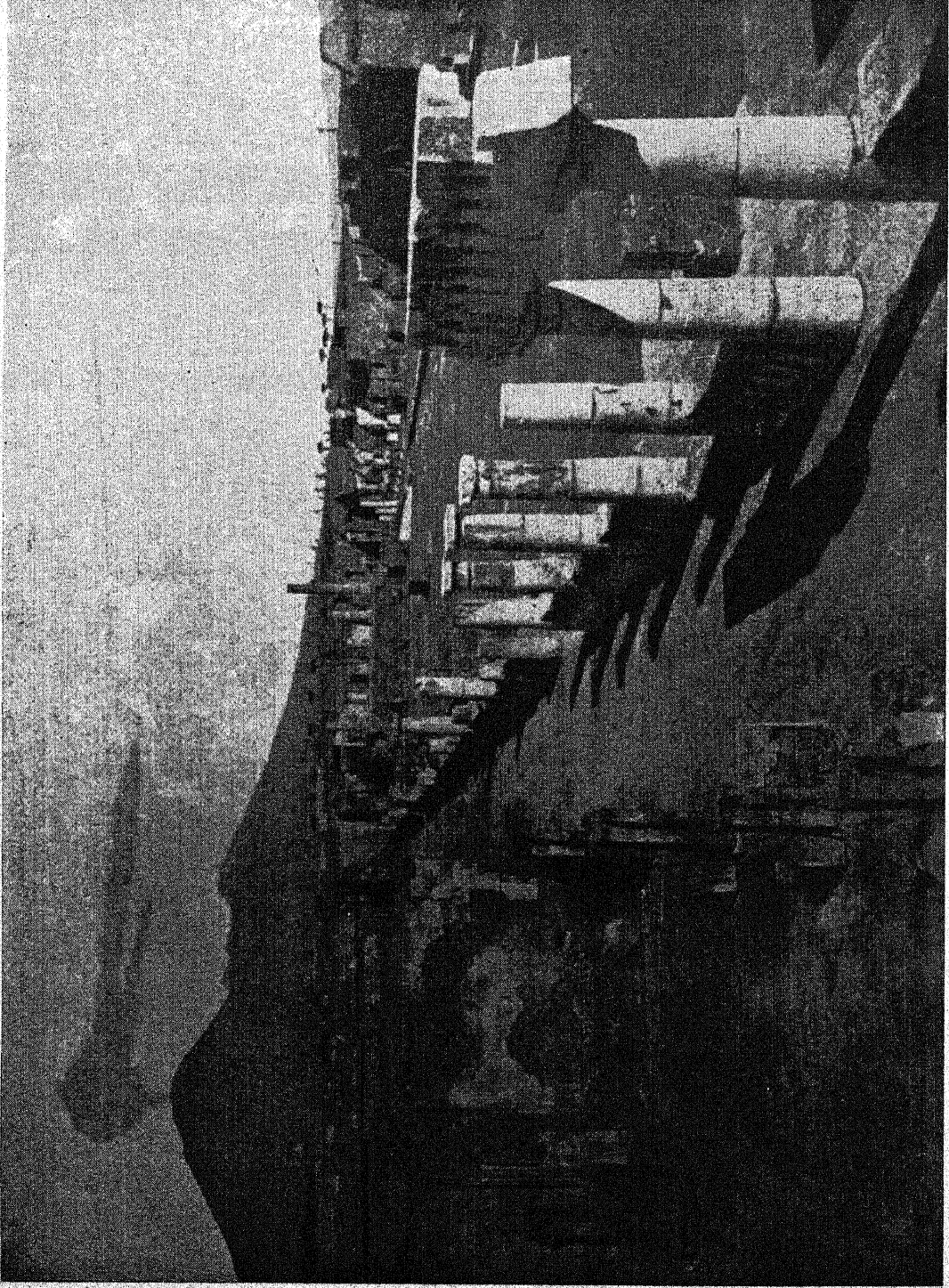
पाम्पाई नगर के भग्नावशेष—दो हज़ार वर्ष पूर्व २४ अगस्त सन् ७९ ई० को जब कि नगर के निवासी अपने कार्य्यों में व्यस्त थे, अचानक विस्युवियस ने प्रलयङ्कारी ज्वाला उगलना शुरू किया और समूचा नगर २० फ़ीट गहरी धूल, गर्दगुबार और उत्तप्त चट्टानों के चूर के नीचे दब गया।

ज्वालामुखी पर्वत और उनके उग्र उद्गार (२)

कुछ प्रसिद्ध ज्वालामुखियों के उद्गारों की कहानी

संसार के अधिकांश ज्वालामुखी पर्वत आजकल शांत और सुषुप्तावस्था में पाये जाते हैं तथापि अनेक ज्वालामुखियों में समय-समय पर ज्वाला भड़क उठती है और अचानक ही उनमें उद्गार आरम्भ हो जाता है। इसके विपरीत अनेक ऐसे भी ज्वालामुखी पर्वत देखने में आते हैं, जिनमें निरन्तर ही उद्गार होता रहता है। कुछ ज्वालामुखी पर्वतों का उद्गार आरम्भ होते समय शनैः-शनैः ज्वाला भड़कती है और कुछ काल उपरान्त उद्गार की पराकाष्ठा हो चुकने पर, फिर धीरे-धीरे सुषुप्तावस्था आरम्भ हो जाती है। कुछ का उद्गार प्रचण्ड वेग से, अचानक ही, भीषण धड़ाकों और प्रचण्ड वेगमयी लपटों से आरम्भ होता है और अन्त में लावा के उफान के उपरान्त शान्त हो जाता है, और कुछ में धड़ाकों और विस्फोटों के उपरान्त भीषण तीव्र ज्वालामय उद्गार के दृश्य देखने में आते हैं, जिनमें पिघले हुए लावा के आग्नेय फ़ौव्वारे, गैसों के प्रज्ज्वलित बादल, राख-धूल के वेगमय गुब्बार और चट्टानखण्ड की बम-वर्षा, अत्यन्त वीभत्स और भीषण दृश्य प्रमुख हैं।

न तो संसार के समस्त ज्वालामुखियों का उद्गार एक समय ही में होता है और न उनका स्वरूप ही एक-सा होता है। यहाँ तक कि एक ही ज्वालामुखी के विभिन्न काल के उद्गारों में भी अत्यधिक असमानता पाई जाती है। इसलिए संसार के समस्त ज्वालामुखियों के उद्गार का कारण एक ही शक्ति है, इस बात में भी शंका होने लगती है। फिर भी अनेक ज्वालामुखियों के उद्गारों की अवस्था का मनन करने पर उनमें ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जो क्षीणक्रम विन्यास द्वारा एक अछिन्न श्रेणी का रूप धारण कर लेता है। फिर भी, उनके उद्गारों की विशेषताओं के अनुसार हम उन्हें अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। इसके पूर्व कि हम उनके श्रेणी-विभाजन का अध्ययन करें, यह आवश्यक है कि हम संसार के कुछ प्रमुख ज्वालामुखियों के उद्गारों के इतिहास पर नज़र डालकर उनकी विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर लें।

भूतत्त्विक अध्ययन की दृष्टि से ज्वालामुखी के उद्गार का महत्त्व उसकी प्रलयंकारी भीषणता के रूप में उतना नहीं है, जितना उसके द्वारा उत्पन्न हुए एक विशेष श्रेणी की आग्नेय चट्टानों की रचना का ज्ञान प्राप्त होने में है। इन चट्टानों की रचना मनुष्य की दृष्टि की ओट में भूगर्भ के किसी अदृश्य प्रांगण में होती है। और यदि ज्वालामुखी का उद्गार न हो तो मनुष्य इनके विषय में सदैव ही अनभिज्ञ बना रहे; क्योंकि इन 'पातालीय (Plutonic Rocks) चट्टानों' के रचनास्थल तक
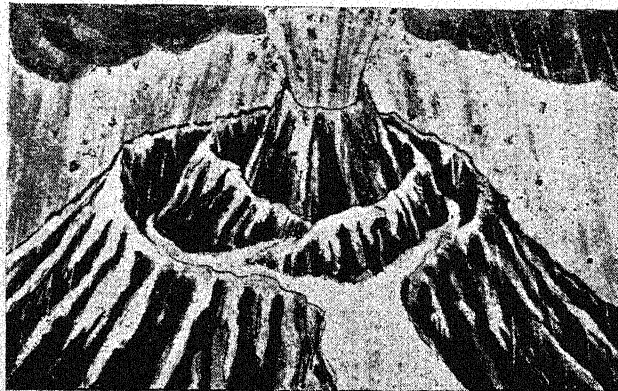
ज्वालामुखी का उद्गार

जाग्रत् ज्वालामुखी पर्वत के क्रेटर से पिघले हुए तप्त लावा की नदी बहकर पास-पड़ोस की चट्टानों में गड्ढे बना देती है।

पहुँचना मनुष्य के लिए दुःसाध्य ही नहीं, असम्भव है।

विस्युवियस का उद्गार

इटली का प्रमुख ज्वालामुखी पर्वत विस्युवियस न केवल संसार का सबसे प्रसिद्ध ज्वालामुखी है, वरन् पुरातन भी है। इसके विषय में लोग बहुत काल पूर्व से भाँति भाँति की किम्वदंतियाँ सुनते आये हैं। तथापि मनुष्य की स्मृति में इसका उद्गार हुए इतना अधिक काल व्यतीत हो चुका था कि इसकी लोग ज्वाला की बात एकदम ही भूल गये थे। अचानक ही, ७९ ई० में इसकी ज्वाला फूट निकली। यह उद्गार इतना प्रचण्ड और भीषण हुआ कि मानव समाज पर प्रलय का-सा आतंक छा गया। कई शताब्दियों तक इसकी स्मृति मनुष्यों को भुलाये न भूलती थी। रोमन सभ्यता के जगमगाते हुए, हरक्युलेनियम पाम्पाई और स्टेवियाई, नामक नगर न केवल एकदम तहस-नहस हो गये, वरन् ज्वालामुखी की उगली हुई राख, धूल और आग्नेय चूरचार के इतने मोटे पर्त्त से ढक गये, जिसे हटाना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात थी। इस उद्गार की विशेषता यह थी कि इसके उगले हुए पदार्थों में राख, धूल, भाप, गैसें तथा चट्टानों के खण्ड और चूरचार की आग्नेय बौछारों के अतिरिक्त लावा का तनिक भी प्रवाह नहीं हुआ। भाप की अधिकता से इतनी भीषण वर्षा हुई कि हरक्युलेनियम नगर पर जमी हुई राख-धूल कीचड़ में परिणत हो गई और कीचड़ कालान्तर में जमकर कठोर चट्टान बन गया। पाम्पाई नगर ज्वालामुखी के मुख से लगभग ६ मील दूर स्थित है। इतनी दूरी पर भी आग, राख, धूल, भाप और वर्षा की भीषण बौछार के फलस्वरूप इस पर ३० फ़ीट मोटी परत जम गई थी। राख, धूल और भाप के बादलों ने आकाश में ऐसा घटाटोप अँधेरा कर दिया था कि सूर्य उसके पीछे विलुप्त हो गया प्रतीत होता था।
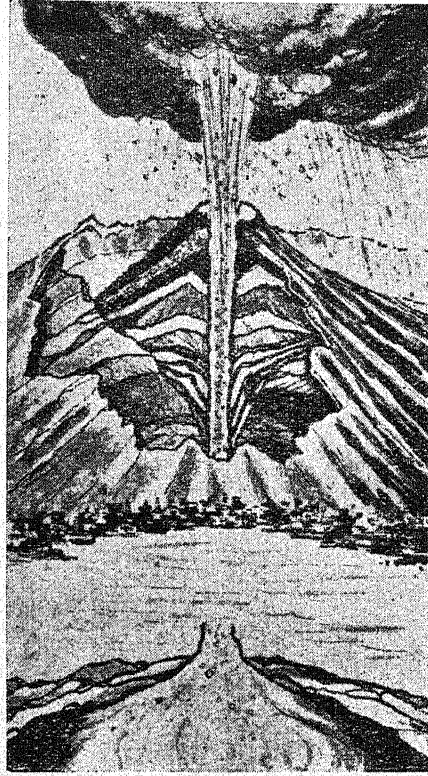
माउण्ट विस्युवियस के उद्गार का दृश्य जबकि उसने ७९ ई० में पाम्पाई और हरक्यूलिनियम को पाताल में पहुँचा दिया था।
(व्यत्यस्त चित्र cross-section)

इस ज्वालामुखी से २५ मील दूर स्थित मिसिनम नगर में इतना गहरा अन्धकार छा गया, जैसा कृष्ण पक्ष की रात में किसी बन्द कमरे में प्रकाश बुझा देने पर होता है। राख और धूल की इतनी भारी बौछार पड़ती थी कि इतनी दूर पर भी लोग बार-बार खड़े हो-होकर अपने कपड़े झाड़ते थे कि कहीं उसके नीचे बोझ से दब न जायें।

मनुष्य की स्मृति में विस्युवियस का यह सर्वप्रथम उद्गार था। इसके उपरान्त इस ज्वालामुखी में कई बार प्रचण्ड ज्वाला भड़की है और बीच-बीच में शान्ति और सुषुप्तावस्था की कई एक लम्बी अवधि बीती है जो कई बार शताब्दियों तक रही है। ११३९ ई० से १६३१ ई० तक की २०० वर्ष की लम्बी अवधि में इसमें केवल एक बार १५०० ई० में एक सूक्ष्म-सा उबाल देखने में आया था परन्तु इस युग की समाप्ति पर इसमें बहुत जल्दी-जल्दी उद्गार होने लगे। १९०६ ई० में इसका आधुनिक युग का सबसे प्रचण्ड उद्गार हुआ। एफ० ए० पेरेट (F. A. Parret) महोदय ने इस उद्गार का निरीक्षण और अध्ययन बड़ी तत्परतापूर्वक किया। इस उद्गार का विस्तृत वर्णन उन्होंने एक रिपोर्ट के रूप में लिखा है।

"१९०४ और १९०५ ई० में इस पर्वत के शंकुशिखर के निकट एक सूक्ष्म-सी ज्वाला भड़कती देखी गई। हल्के धड़ाके और चट्टान का थोड़ा-बहुत लावा दोनों साल तक उफनता रहा। एक बार तो लावा का प्रवाह निरन्तर १० महीने तक हुआ। इस उद्गार की पराकाष्ठा का दृश्य ४ अप्रैल १९०६ ई० को उपस्थित हुआ। इसके तीन विपरीत विशेष स्वरूप देखने में आये। सर्वप्रथम चमकते हुए तरल लावा का उफान और प्रवाह आरम्भ हुआ। राख और धूल के घने काले घटाटोप गुब्बारों ने आकाश को पूर्णतया आच्छादित करके महानिशा का-सा अन्धकार कर दिया। शंकु के चारों ओर से लावा की नदियाँ

बह निकलीं और लावा की बाढ़ से आस-पास की भूमि ढक गई। लावा की बाढ़ समुद्रतल से २००० फ़ीट ऊँची भूमि तक पहुँच गई। ज्वालामुखी में इस समय इतना प्रचण्ड उफान आ रहा था कि लावा की धारायें फ़ौवारों के रूप में ऊपर आकाश की ओर उठकर शंकु की भूमि पर गिरती थीं। लावा के साथ चट्टानों के अर्द्ध-विघलित जाज्वल्यमान पदार्थों की वर्षा से बड़ा भीषण दृश्य उपस्थित हो गया था। ज्वालामुखी से प्रज्वलित पदार्थ आकाश की ओर उठकर अति उज्ज्वल प्रकाशस्तम्भ के समान समस्त जग को आलोकित करता प्रतीत होता था। नेपिल्स की खाड़ी में, केप्री से लेकर मिसेनो तक इस प्रकाशस्तम्भ का आलोक सूर्यलोक से भी अधिक चमकता हुआ फैल गया था। आठ अप्रैल को शंकु का ऊपरी भाग फटकर बाह्य पार्श्व की ओर गिरने लगा और तत्काल उद्गार का दृश्य बदलकर दूसरा स्वरूप धारण करने लगा। ज्वालामुखी के गले में अति भीषण गड़गड़ाहट आरम्भ हुई जो न्याग्राप्रपात की ध्वनि से भी अधिक तीव्र, भारी तथा चीत्कारमय थी। इसके साथ ही किसी महाविशाल भपके (Boiler) से अचानक फूट निकलनेवाली, दबी हुई भाप के वेग के समान, गर्जन-तर्जन करती भाप, धुएँ और गैस के स्तम्भों का उद्गार आरम्भ हुआ। गैसों के ये बादल आकाश में लगभग आठ मील ऊँचे उठ गये। लगभग ३ बजे सायंकाल तक इस धूम-उद्गार का वेग क्षीण पड़ने लगा और गैसों के स्थान पर राख का उद्गार होने लगा। अगले दिन प्रातःकाल गैस का उद्गार समाप्त हो गया और राख के घटाटोप गुब्बार आकाश में उठने लगे। इस समय ज्वालामुखी के मुख की चौड़ाई बढ़ गई थी। राख का उद्गार कई दिनों तक जारी रहा। परन्तु उसका वेग निरन्तर घटता जाता था। ज्वालामुखी के शान्त हो जाने पर निरीक्षण करने से ज्ञात हुआ कि शंकु के ऊपर का ५०० फ़ीट मोटा अंश विलुप्त हो गया था और क्रेटर फैलकर अति विशाल हो गया।

आधुनिक काल में विस्युवियस का यह अन्तिम भीषण उद्गार था। वैसे तो विस्युवियस में शनैः-शनैः क्षीण उद्गार सदैव ही होते रहते हैं।

भूमध्य सागर में एटना और स्ट्राम्बोली नामक दो और ज्वालामुखी हैं जो विस्युवियस के समान ही महत्त्वपूर्ण हैं। स्ट्राम्बोली विगत २००० वर्षों से भी पहले से निरन्तर उद्गार करता रहा है। साधारणतः इसके उद्गार के समय अत्यन्त तरल लावा और उसमें उबलते हुए गैस के बुलबुले निकलते हैं। इसका उद्गार इतना शान्त और नम्र दिखाई देता है कि उसकी मनोरमता का रसास्वादन उसके मुख में बैठकर निर्विघ्न किया जा सकता है। परन्तु इस गम्भीरता को भंग करनेवाले बीच-बीच में ऐसे प्रचण्ड उद्गार हो चुके हैं जिनकी भीषणता दिल दहला देती है। आधुनिक शताब्दी में भी १९०७, १९१२, १९१५ और १९२१ में इसके प्रचण्ड उद्गार हुए हैं। जून १९२१ में इसके उद्गार के समय इतना विषैला और गन्धकमय धुआँ निकला कि इस द्वीप के अधिकांश निवासी (२८००) स्ट्राम्बोली द्वीप छोड़कर भाग गये। सितम्बर १९३० में इस ज्वालामुखी में फिर भीषण खलबली मची थी। लावा का प्रवाह शंकु के आधार को छोड़कर प्रचण्ड रूप से होने लगा और भीषण धड़ाकों से पर्वत का शिखर ही उड़ गया। स्ट्राम्बोली से बहुधा भाप का ही उद्गार होता है जो देखने में धुआँ-सा लगता है। क्रेटर की भूमि की दरारों से प्रज्वलित लावा की चमक जब भाप के इन बादलों पर पड़ती है तब वे अति प्रकाशमान हो जाते हैं। इसीलिए स्ट्राम्बोली को 'भूमध्य सागर का प्रकाशस्तम्भ' कहते हैं।

एटना सिसिली द्वीप के पूर्वीय भाग में स्थित है। समुद्र-तल से यह १०००० फ़ीट की ऊँचाई पर है। इसका वृत्ताकार आधार परिधि में ८७ मील लम्बा है। इससे निकला हुआ लावा इसके आधार के दूने क्षेत्रफल की भूमि को ढाँपे हुए है। शंकु का निचला भाग खेतीबारी के काम आता है परन्तु ऊपर की भूमि केवल उजाड़ खण्ड है। शंकु की ऊँचाई लगभग ११०० फ़ीट है। इसके क्रेटर से भाप और गन्धकमयी गैसें निरन्तर निकलती रहती हैं। कभी-कभी लावा भी बह निकलता है। एटना का उद्गार इसी प्रकार निरन्तर लगभग ४०० वर्ष ईसवी पूर्व से होता आ रहा है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उद्गार १६६६ ई० में हुआ। इस उद्गार के समय पर्वत का सम्पूर्ण शिखर भस्म हो गया और उसके स्थान पर पर्वत के पार्श्व में ६ फ़ीट चौड़ा और अनन्त गहराईवाला एक गर्त उत्पन्न हो गया जो लगभग १२ मील लम्बा था। पाँच गर्त और भी बन गये थे। इन सबमें पिघला हुआ लावा भर गया और पीछे यह जमकर कठोर चट्टान की दीवाल बन गया। शिखर से २७ मील की दूरी पर जंगल में एक दरार उत्पन्न हो गई जिससे बालू और राख आदि उछल-उछलकर गिरने लगीं। ये एक दूसरे छोटे 'गौण' शंकु के रूप में जमा हो गईं। यह शंकु ४५० फ़ीट ऊँचा हो गया।

माउण्ट एटना प्रचण्ड उद्गार में

शंकु के प्रत्येक उद्गार के साथ इन शंकुओं से दो बार उद्गार होता है। आज कल इस ज्वालामुखी में ऐसे लगभग २०० शंकु हैं और इनमें से एक तो ७५० फ़ीट के लगभग ऊँचा है।
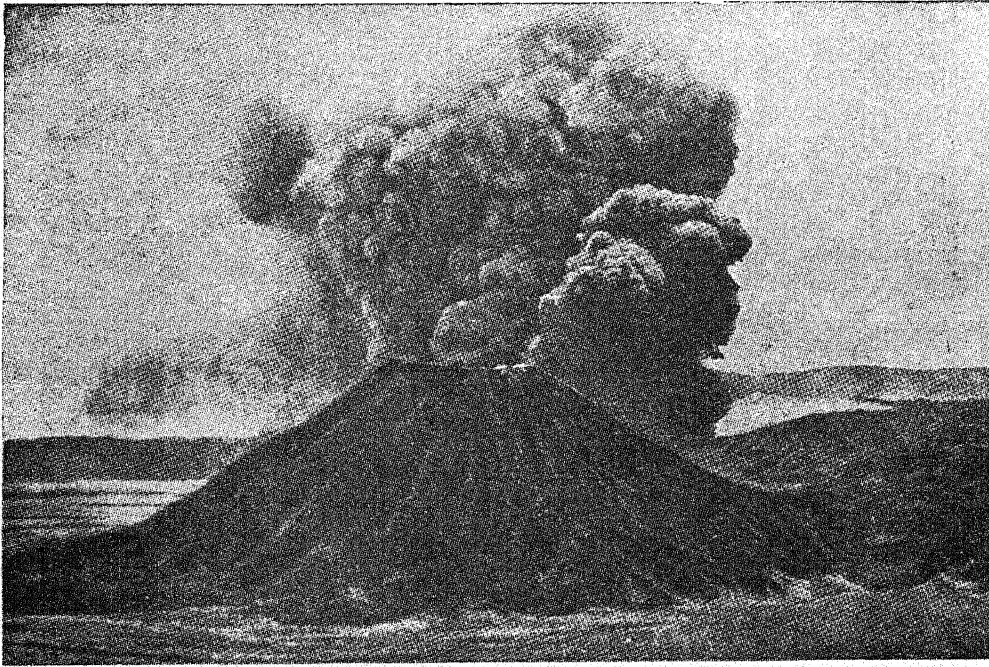
बड़े गर्त से उफनकर लावा की धारा १४ नगरों और गाँवों को पार करती हुई, जिनमें ४००० मनुष्य रहते थे, १५ मील की दूरी पर बसे हुए केटेनिया नगर के परकोटे की दीवाल तक पहुँच गई। दीवाल की ऊँचाई ६० फ़ीट के लगभग थी जिसे पार करके इसकी धधकती धार नगर की ओर गिरने लगी और नगर के कुछ अंश को तहस-नहस कर डाला। पिघले पाषाण की इस आग्नेय धारा ने भीषण त्राहि उत्पन्न कर दी। कभी तो यह धारा १५०० फ़ीट प्रति घंटा की गति से और कभी कई दिनों में दो-चार गज़ से भी कम रेंगकर आगे बढ़ती थी। पहली १५ मील भूमि तो इसने केवल २० दिन में पार कर ली परन्तु अन्तिम २ मील बहने में इसे २३ दिन लग गये। जब यह धारा समुद्र में जा मिली तब भी यह उत्तप्त पिघले पदार्थों की ६० गज़ चौड़ी ४० फ़ीट गहरी नदी के रूप में थी। इस नदी का ऊपरी तल जमकर कठोर हो गया था। परन्तु इस कठोर परत के नीचे से पिघले पदार्थ का दबाव ऊपर के परत को विखण्डित करता हुआ बार-बार बह निकलता था और ऊपर आकर स्वयं भी ठण्डा होकर कठोर रूप में जम जाता था।

एटना की एक विशेषता यह है कि इसके शंकु के ढालों पर छोटे-छोटे 'गौण' शंकु उत्पन्न होते रहते हैं। प्रमुख

क्राकाटोआ का भीषण उद्गार

क्राकाटोआ (KraKatoa) का भीषण उद्गार आधुनिक काल के उन दो महत्त्वपूर्ण उद्गारों में से है जिनके कारण समस्त भूमण्डल डोल उठा था। इनमें से एक क्राकाटोआ का अगस्त १८८३ का उद्गार और दूसरा मई १९०२ ई० का मॉट पेलयी (Mont Pelee) का है। क्राकाटोआ जावा और सुमात्रा के बीच सुण्डा जलडमरूमध्य का प्रसिद्ध ज्वालामुखी है और मॉट पेलयी पश्चिमी द्वीपसमूह के मारटीनीक्यु (Martinique) टापू का प्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत है।

क्राकाटोआ का यह महाभीषण उद्गार १८८३ ई० में हुआ था। इसके पूर्व सन् १६८० ई० में भी यह ज्वालामुखी भड़क चुका था, परन्तु इसके उपरान्त इसने सुषुनावस्था धारण कर ली थी। १८८३ ई० के मई मास में इसमें से धुएँ के बादल उठते देखे गये और अगस्त तक धुएँ का उद्गार निरन्तर होता रहा। अब धुएँ के उद्गार के साथ भीषण धड़ाकों के शब्द भी सुनाई पड़ने लगे। धड़ाकों के घनघोर शब्द से वायुमण्डल विकम्पित हो उठा और समस्त भूमण्डल के वायुभार में अप्रत्याशित उतार-चढ़ाव होने लगा। दस घंटे के पश्चात् ही इसका प्रभाव बर्लिन में दिखाई पड़ने लगा। सबसे भीषण

धड़ाका २७ अगस्त के प्रातःकाल में हुआ। इसका घनघोर शब्दनाद जब चारों ओर फैला तो लोग भय और आश्चर्य से उत्पीड़ित हो उठे। इतना भीषण शब्द लोगों ने अपनी स्मृति में आज तक कभी नहीं सुना था। इस धड़ाके के साथ ही टापू का दो-तिहाई भाग उड़ गया और पर्वत के स्थान पर तीन-चार सौ गज़ से भी अधिक गहरा सागर लहराने लगा। इस धड़ाके की आवाज़ ३००० मील दूर भी साफ़ सुनाई पड़ती थी। ६४ मील दूर बटेविया के लोग धड़ाकों को सुनकर मृत्यु-आशंका से अधमरे हो गये। ६६६ मील की दूरी पर, सेलीबीज़ (Celebes) टापू के निवासी यह समझे कि धड़ाके उन्हीं के टापू के तट पर किसी जलयान के विस्फोटन से हुए हैं और इसकी खोज करने के लिए उन्होंने अपने माझियों को नावों पर भेजा। १३५१ मील दूर तिमोर (Timor) के निवासी भी इस शब्दनिनाद से अत्यन्त भयभीत होकर काँपने लगे। धड़ाके की गूँज ४ घंटे बाद ही हिन्दमहासागर के पार ३०८० मील दूर रोडरीक्यूज़ (Rodriquez) द्वीप पर साफ़ सुनाई पड़ी थी। इस धड़ाके के प्रभाव से समुद्र में अति वेगवान लहरें उठीं और इन लहरों ने विरोधी दिशाओं में पयान करके समस्त पृथ्वी के जलमण्डल को डावाँडोल कर दिया।

आसपास के टापुओं पर ५० फ़ीट गहरी जल की बाढ़ आ गई और लहरों के थपेड़ों से जावा और सुमात्रा के तटवर्त्तीय लगभग ३०० गाँव बह गये और ३६००० से अधिक मनुष्य डूबकर मर गये।

क्राकाटोआ का उद्गार

दो शताब्दियों तक सुषुप्तावस्था में पड़े रहने के उपरान्त यह ज्वालामुखी अपनी कुम्भकर्णी निद्रा से प्रलयङ्कारी वेग के साथ जगा—क्राकाटोआ द्वीप का दो-तिहाई भाग इस विस्फोट में टुकड़े-टुकड़े होकर उड़ गया।

भाप, राख, धूल और चट्टानों के खण्ड आतिशबाज़ी की फुलझड़ियों की भाँति छूट-छूटकर आकाश में उठते थे और बीस मील की ऊँचाई तक पहुँचते देखे गये थे। इनके लौटकर गिरने से आकाश भर में अत्यंत काला धुंध छा गया था, जिससे दिन में भी कृष्णपक्ष की रात्रि का-सा दृश्य उपस्थित हो गया। यह अन्धकार टापू को चारों ओर १८० मील की दूरी तक घेरे रहा। जब यह राख-धूल लौटकर धरातल पर गिरी, तब तक यह वायुमण्डल में समस्त पृथ्वी के तीन चक्कर लगा चुकी थी। समस्त धरातल के निवासी इस प्रकार इस प्रलयंकारी दुर्घटना का परिचय पा गये। राख-धूल के अति सूक्ष्म कणों का धुंध समस्त धरातल के वायुमण्डल में छाया रहा। इन त्रसरेणुओं की आँधी ने १८८३-८४ के शीतकाल भर समस्त धरातल पर अस्ताचलगामी सूर्य की रंग-विरंगी, विशेषकर रक्ताभ एवम् हरित प्रकाशयुक्त मनोरम दृश्यावलियों की उत्पत्ति से समस्त संसार को चकित कर दिया। धूल के पतले आवरण के कारण चन्द्रमा के दृश्य भी योरप में विचित्र दिखाई देते थे।

इस उद्गार के समय लावा का सर्वथा अभाव रहा। केवल राख-धूल और विखण्डित चट्टानों की अपार राशि ने आकाश में उड़कर लगभग ३००,००० वर्ग-मील भूमि को ढक लिया था। समुद्र में उतरानेवाले
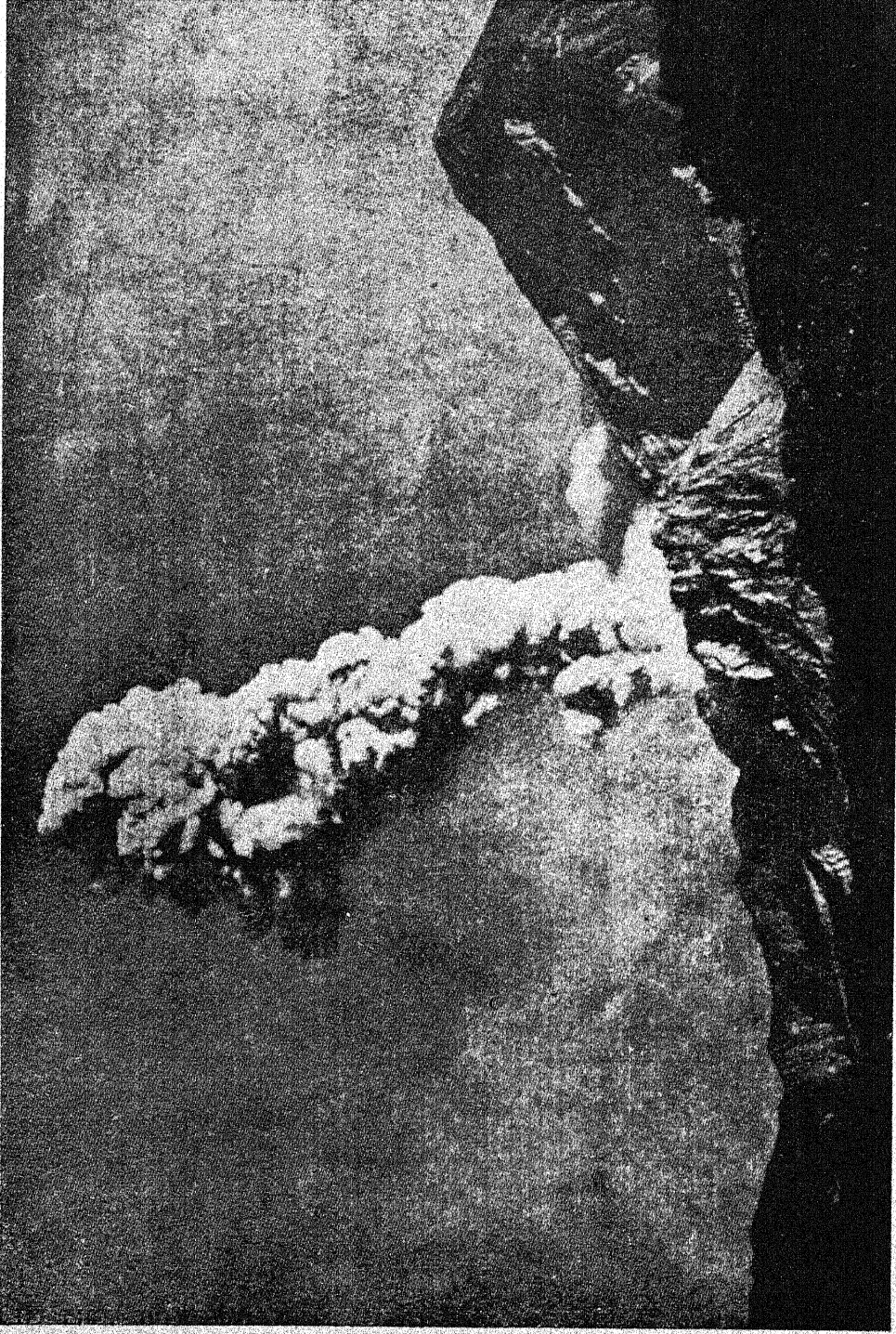
दिन को घटाटोप बादल का स्तम्भ—रात को अग्नि-ज्वाला की ऊँची लपट

सेन्टामेरिया ग्वाटेमाला का सबसे ख़तरनाक प्रज्वलित ज्वालामुखी है—१९०२ के भीषण उद्गार में हज़ारों जानें इसकी भेंट हुईं और लगभग ५ लाख डालर का नुक़सान काफ़ी और गल्ले के फ़ार्म जल जाने के कारण हुआ। १९३० में इसके उद्गार ने पुनः प्रलय के दृश्य का निर्माण किया था। इसके शंकु में अधिकांश राख ही है, उत्तप्त लावा इस ज्वालामुखी से कम निकला था। पृष्ठ १९९९ देखिये।

झामा पत्थर (Pumice) के कारण जलयानों के मार्ग अवरुद्ध हो गये थे। वायुमण्डल में इस प्रचण्ड उद्गार से जो कम्पन उत्पन्न हुआ उसकी विशाल तरंगों ने सारे संसार के वायुभार को हिला दिया। वायुमण्डल में इन तरंगों का सात बार दौरा हुआ। प्रत्येक लहर ७२ घंटे में क्राकाटोआ से चलकर फिर वहीं लौट आती थी। इस विस्फोट के पश्चात् ज्वार की ऐसी भीषण धारा उत्पन्न हुई थी कि एक बड़े भारी जहाज़ को ज्वार-तरंगें भूमि की ओर मील-डेढ़ मील बहा लाईं और पचास-पचास टन-वाले शिलाखण्ड ज्वार-तरंगों में बहकर ३ मील भूमि पर चढ़ गये।

मॉंट पेलयी का उद्गार

मई १६०२ ई० में मॉंट पेलयी का ताण्डवीय उद्गार आरम्भ हुआ। पिछले ४५ वर्षों से इस ज्वालामुखी की ज्वाला बुझी पड़ी थी। इस पर्वत का फैलाव आध मील व्यास को वृत्त में था। इसके क्रेटर की मुँडेर २००० फ़ीट की ऊँचाई पर थी। १७६२ और १८५१ में इसमें थोड़ी-बहुत खलबली देखने में आई थी परन्तु १८५२ से १६०२ तक तो यह प्रसुप्त ही रहा। अप्रैल १६०२ में इसमें थोड़ी-बहुत जान मालूम पड़ी थी परन्तु इससे आशंकित होने का कोई विशेष कारण न था। भाप, गैस और राख के गुब्बार उठते रहे और कोई-कोई तो १३०० फ़ीट की ऊँचाई तक पहुँचे। ज्वालामुखी के क्रेटर के धरातल में तीन बड़े-बड़े छेद हो गये। इन्हीं से ज्वाला फूटने लगी। परन्तु शीघ्र ही धुएँ में गन्धक की तीव्रता बढ़ने लगी और इस विषैले धुएँ ने सेण्ट-पयिरीं (St. Pierre) शहर की सड़कों पर घोड़ों को मूर्च्छित करके गिराना आरम्भ कर दिया। थोड़ी ही देर में धुएँ और राख-धूल की अधिकता से राह चलना दूभर हो गया।

पाँच मई को क्रेटर में जमा हुआ कीचड़ बहने लगा और पर्वत के ढाल से नीचे बहकर एक फ़ैक्टरी और कुछ मनुष्यों को इसकी बाढ़ ने नष्ट कर दिया। अब लोगों के कान खड़े हुए और वे भय से काँपने लगे। इस समय भू-कम्प आने आरम्भ हुए और तोपों की गर्जन-सी गड़-गड़ाहट सुनाई पड़ने लगी। भूकम्प के वेग से टापू के पास के समुद्री तार नष्ट-भ्रष्ट हो गये। गड़गड़ाहट की आवाज़ ३०० मील दूर तक सुनाई पड़ती थी। अचानक ८ मई को एक विशाल काले घटाटोप बादल ने क्रेटर से निकल-कर अति तीव्र गति से महाप्रलयंकर आँधी के समान, ब्लेञ्च नदी की घाटी में होकर, पाँच मील दूर बसे सेण्ट-पयिरीं नगर की इमारतों, वृक्षों तथा खम्भों को झकझोरना आरम्भ कर दिया। क्षण भर में नगर तहस-नहस हो गया। मकान गिरकर मिट्टी में मिल गये। वृक्ष उखाड़कर कहीं के कहीं फेंक दिये गये। सारा नगर धू-धूकर विशाल लपटों में जलकर भस्म होने लगा। दो-चार क्षण उपरान्त नगर पर कीचड़ और पत्थरों की भीषण वर्षा होने लगी। नगर के तीस सहस्र अधिवासियों में दो को छोड़कर शेष उसी में मर-खप गये। अनेक जन तो विषैले धुएँ और प्रचण्ड अग्नि की लपटों में घिरकर मर गये।

यह उत्पात कई मास तक होता रहा। अगस्त में इसका रूप फिर वीभत्स हो गया और आसपास के प्रान्तों के २००० मनुष्यों ने फिर इसकी चपेट में आकर प्राण गँवाये। भाप और राख के बादल छः-सात मील ऊँचे उठकर आकाश में छा जाते थे। तदुपरान्त घनघोर वृष्टि होती थी जिसमें राख, धूल और कीचड़ गिरता था।

जिस समय मॉंट पेलयी का उद्गार हो रहा था लगभग उन्हीं दिनों और सम्भवतः एक ही भूगर्भिक शक्ति से प्रेरित होकर ६० मील की दूरी पर सेण्ट विन्सेण्ट नामक टापू का ला-सू-फ्रियर (La Sou friere) नामक ज्वाला-मुखी भी ज्वाला उगलने लगा। इसका उद्गार भी मॉंट पेलयी के सदृश ही वीभत्स और प्रलयात्मक था। परन्तु इसके आसपास कोई घना बसा हुआ नगर न होने के कारण इस उद्गार में केवल १३५० मनुष्य ही काम आये। दोनों ज्वालामुखियों से निकली हुई धूल बहुत दूर तक उड़कर पहुँची। सेण्ट विन्सेण्ट में इस धूल की ६० फ़ीट गहरी परत जम गई। इस ज्वालामुखी से भी लावा का प्रवाह बिल्कुल ही नहीं हुआ।

आधुनिक काल में लावा का भयंकर उत्पात १७८३ ई० में आइसलैण्ड के स्कापता (Skapta) नामक ज्वाला-मुखी के उद्गार के समय देखने में आया। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस ज्वालामुखी से जो विशाल राशि लावा को २५ दिनों के उद्गार में बह निकली थी वह विसुवियस और एटना के दो सहस्र वर्षों के निरन्तर उद्-गार को समग्र लावा-राशि से भी कहीं अधिक थी।

इस ज्वालामुखी के पार्श्व हिमानी से आच्छादित थे। ज्वालामुखी की ज्वाला से हिम पिघलकर जलधारा के रूप में बह निकला जिसकी हहराती बाढ़ से साक्षात् प्रलय उपस्थित हो गया। सहस्रों घर बह गये और खेत नष्ट हो गये तथा हज़ारों मनुष्य और पशु डूबकर मर गये।

इसके दो दिन बाद लावा की नदियाँ बहनी आरम्भ

हुई। लावा की आग्नेय धारा ने स्काप्ता नदी के जल को सुखा डाला और नदी की उपत्यका में लावा का प्रवाह होने लगा। लावा की ६०० फ़ीट गहरी और २०० फ़ीट चौड़ी आग्नेय धारा जिस ओर से बहती हुई गई वहाँ त्राहि-त्राहि मच गई। नदी का जल बड़ी शीघ्रता से उबल-उबलकर सूखने लगा और लावा की धारा आगे बढ़ते-बढ़ते स्काप्ता झील तक जा पहुँची, जहाँ पहुँचने पर झील का जल भी सूख गया और झील में लावा भर गया। एक सप्ताह तक लावा का प्रवाह होता रहा और इस बीच में ज्वालामुखी की एक दूसरी दरार से लावा का दूसरा उबाल आरम्भ हुआ। यह धारा पहली लावा की धारा के ऊपर होकर उसे दबाती हुई और भी अधिक वेग से बहने लगी। धधकती अग्नि की यह विकराल नदी निरन्तर बहती हुई आगे बढ़ती गई और एक प्रपात पर पहुँचकर प्रपात के जल को भस्म करती हुई उसके स्थान पर झरने लगी। विकराल अग्नि का ऐसा धधकता झरना आज तक कभी देखने में नहीं आया था। लोग इसकी कल्पना से ही काँपने लगे। पृथ्वी के आदि युगों की याद आने लगी।

इस झरने से झरता हुआ आग्नेय लावा का यह धधकता हुआ नद बहकर समुद्र तक पहुँचा और वहाँ सागर के जल में गिरकर इस प्रकार उबलने लगा जैसे गरम तवे पर पानी की बूँदें छन-छनाती हुई उबलती हैं। इस प्रचण्ड उबाल के

जावा के माउण्ट ब्रोमो का उद्गार

कारण तट से एक मील की दूरी तक के समुद्र के समस्त जलचर मर गये और उनके मरे हुए निर्जीव शरीर उबलते पानी में उतराने लगे। लावा का यह वीभत्स उद्गार दो वर्ष तक निरन्तर होता रहा और यह विश्वास किया जाता है कि स्काप्ता के उद्गार में लगभग दस सहस्र लाख टन लावा बह निकला जो यदि एक ही स्थल पर एकत्रित किया जाये तो माउण्ट ब्लैंक से भी ऊँचा पर्वत बन जाये। इस उद्गार के फलस्वरूप एक वर्ष तक आइसलैण्ड का वायुमण्डल धूल और राख के घने काले बादलों से आच्छादित रहा जिससे सूर्य का दर्शन दुर्लभ हो गया था। ग्यारह वर्ष के बाद भी लावा की कड़ी ठण्डी पपड़ी के नीचे से गरमी निकलती थी।

१९०२ के महत्त्वपूर्ण वर्ष में मध्य अमरीका में भी ज्वालामुखी की आग भड़क उठी। निकाराग्वा के मौसाया, तथा सालवेडर के इज़ाल्को, और ग्वाटीमाला के सेण्टामेरिया, के ज्वालामुखियों के उद्गार इसी वर्ष हुए। इनमें सेण्टामेरिया का उद्गार अति प्रचण्ड और भयावह था। यह ज्वालामुखी बहुत दिनों से सोया हुआ पड़ा
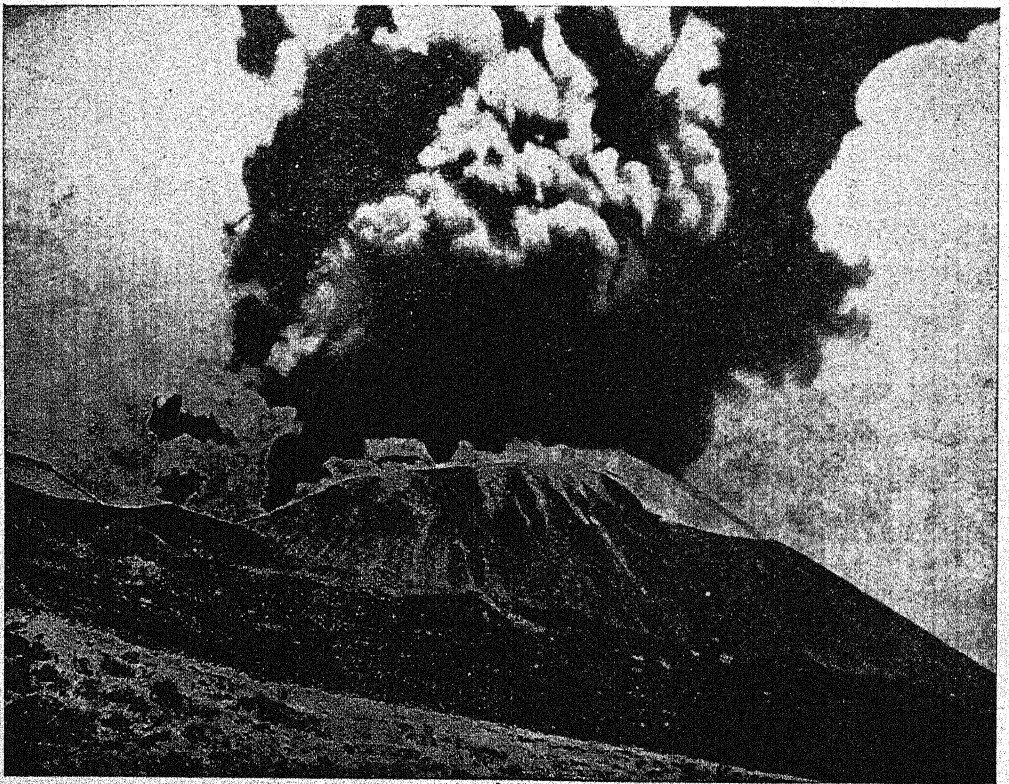
था। २४ अक्टूबर को अचानक यह फूट पड़ा और इसका उद्गार एक वर्ष तक निरन्तर होता रहा। परन्तु उद्गार की प्रचण्डता प्रतिदिन कम होती गई। राख और धूल की अपार राशि ने लाखों वर्ग मील भूमि को आच्छादित कर दिया। पर्वत के निकट के भवन ५० फ़ीट से भी मोटी गर्द की तह में छिप गये।

इसके उपरान्त ज्वालामुखी शान्त होता प्रतीत हुआ। केवल १९११ में कुछ गन्धकीय गैसों के बादल इसमें से वेग पूर्ण गति से निकलते पाये गये। अचानक १९२४ ई० की ग्रीष्म ऋतु में उद्गार की प्रचण्डता फिर उभड़ गई। साधारण गड़गड़ाहट और राख-धूल के उद्गार के पश्चात् क्रेटर में लावा का गुम्बज उठता दिखाई पड़ा। इस गुम्बज की ऊपरी पपड़ी फट-फटकर गिरने लगी और भाप के घने बादल ऊपर उठते रहे। धीरे-धीरे फिर उद्गार शान्त पड़ गया। मई १९२२ में इसी प्रकार फिर एक बार उबाल-सा आया और फिर ठण्डा पड़ गया। २ नवम्बर १९२८ की रात्रि में इसमें फिर ज्वाला भभक उठी। गुम्बज के आधार से प्रज्वलित बादल का बड़ा-सा गुब्बारा निकलकर आकाश में ख़ूब ऊँचा उठा। परन्तु इस उद्गार से मॉट पेलयी के समान कोई हानि नहीं हुई यद्यपि इसका वेग उतना ही प्रचण्ड और विनष्टकारी प्रतीत होता था।

अलास्का के कटमाई नामक ज्वालामुखी का १९१२ का उद्गार भी बिना लावा का उद्गार था। इसमें से निकली हुई राख और धूल इतनी अधिक उत्तप्त और प्रज्वलित थी कि जिस घाटी में यह भर गई थी उसमें से बहुत समय तक आग की लपटें निकलती रहीं और इसीलिए लोगों ने उस घाटी का नाम दस सहस्र लौ वाली घाटी (The valley of Ten Thousand smokes) रख दिया।

इसी प्रकार का सूखा उद्गार १८१५ ई० में जावा के निकट सुम्बा द्वीप के ताम्बोरो नामक ज्वालामुखी का हुआ था। इस उद्गार में इतनी अधिक राख और धूल की राशि निकली थी कि ज्वालामुखी के चारों ओर २० मील व्यास की वृत्त के भीतर का प्रत्येक गाँव और नगर इसमें दबकर नष्ट-भ्रष्ट हो गया। यह ख़्याल किया जाता है कि इस उद्गार में लगभग १५० घन किलोमीटर राख, धूल निकलकर भूमि पर गिरी होगी।

किलाऊ लावा झील

यह फ़ोटो १९ मार्च १९२१ को २ बजे दिन में ली गयी थी—उत्तप्त लावा के झील में पहुँचने के कारण पानी मानों क्षुब्ध होकर उत्ताल तरंगों के रूप में पीछे दीवाल बना रहा है।

संसार के ज्वालामुखियों के उद्गारों के इतिहास में प्रशान्त महासागर के हवाई द्वीपों के ज्वालामुखियों के उद्गार अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इन द्वीपों की दोनों समानान्तर श्रेणियों में असंख्य ज्वालामुखी पर्वत हैं। बहुत-से द्वीप तो सागर की तली में बने हुए ज्वालामुखी के शंकुओं की चोटी के ही वे भाग हैं जो जल के ऊपर निकल आये हैं और असीम जल के बाहर गर्दन उठाये अपनी सत्ता का परिचय देते प्रतीत होते हैं।

हवाई द्वीप पर स्थित मौओना लोआ और किलाऊ नामक ज्वालामुखी आजकल भी जाग्रत हैं। किलाऊ का उद्गार इतना विलक्षण होता है कि उसके प्रचण्ड उद्गार की प्रतीक्षा की जाती है, जिससे उसका अध्ययन किया जा सके। यों तो अनेकों विस्फोटक उद्गार भी इस ज्वालामुखी में हो चुके हैं, परन्तु साधारणतः इसका उद्गार शान्त ही होता है। साधारण उद्गारों के समय एक प्रकार का तरल पतला लावा बहता है, राख और चट्टानों
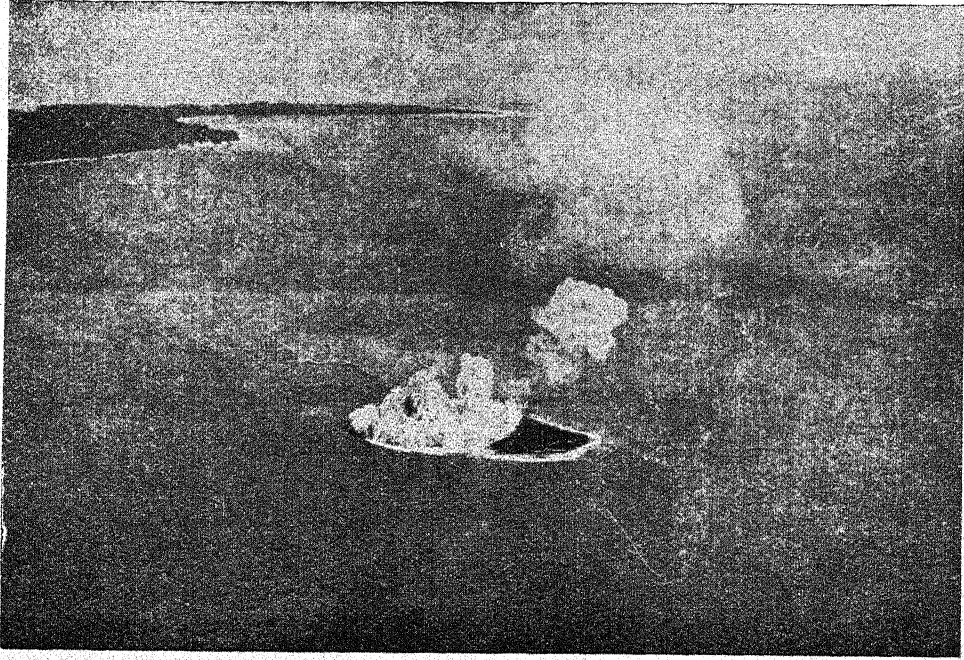
क्राकाटाग्रा के उद्गार का एक दूसरा दृश्य
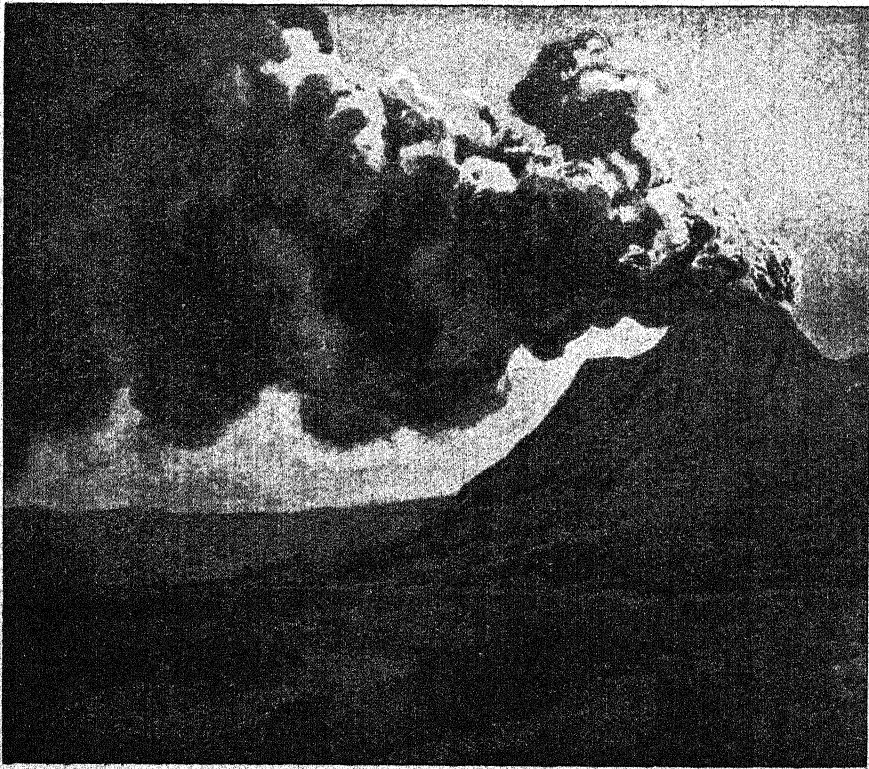
माउण्ट ब्रोमो (जावा) के उद्गार का एक दूसरा दृश्य

का अंशात्मक पदार्थ नहीं। यह लावा मधु-सदृश गाढ़ा होता है और उसी के समान बहनेवाला होता है। इसका मुखगर्त्त एक विशाल आकार का कड़ाहा है, जिसकी आकृति और आकार में समय-समय पर परिवर्त्तन होता रहता है। आजकल यह ३ मील लम्बे और १ मील चौड़े अण्डाकार विशाल गर्त्त के रूप में है। इसके आधे आकार का एक और छोटा गर्त्त इसकी पेंदी में है। इस लघु-गर्त्त का धरातल जमे हुए लावा-पदार्थ का बना है। इस लघु-गर्त्त में एक और गर्त्त है जो पिघले हुए लावा से भरा हुआ है और 'लावा की झील' कहलाता है। इसका नाम हालमाऊमाऊ है। हालमाऊमाऊ की दशा भी निरन्तर बदलती रहती है। १९१२ ई० में इस झील की लम्बाई-चौड़ाई ८००×५०० फ़ीट थी और इसके लावा का तापक्रम ९५०–११८५ सेण्टीग्रेड था। तरल लावा से धुएँ के बादल ऊपर उठते थे जो कभी तो बहुत ऊँचे उठ जाते थे और कभी कम। कभी-कभी धुएँ का उद्गार इतना प्रबल हो उठता था कि उबलते लावा की धाराएँ उसके साथ-साथ ऊपर उठ जाती थीं। ३ जुलाई १९१२ ई० को लिये गये इसके छायाचित्र (फ़ोटो) से प्रतीत होता है कि उस दिन इसमें ११०० से भी अधिक धाराएँ धुएँ के उद्गार के साथ ऊपर फ़ौवारे की भाँति छूट रही थीं। एक विशेषता यह देखने में आई कि जिन दिनों धुएँ का वेग अत्यधिक होता था, उन दिनों झील के लावा का तापक्रम भी सबसे अधिक होता था।

कभी-कभी लावा की यह झील एकदम सूख जाती है, जैसा कि १९२४ में हो चुका है। उसका लावा नीचे ही नीचे विलुप्त हो गया। लावा के न होने पर भी गैसों का उद्गार निरन्तर होता रहा और भीषण विस्फोट होते रहे। इस कारण मुख-गर्त्त का व्यास बढ़कर ३५०० फ़ीट हो गया और गहराई भी १५०० फ़ीट हो गई जो पहले की अपेक्षा दूनी थी। इस वर्ष के मई मास में जब उद्गार का वेग फिर प्रचण्ड हुआ तो उसमें से चट्टानों का अंशात्मक पदार्थ भी बाहर गिरने लगा। पुराने लावा के जमे हुए खण्डों की ख़ूब बौछार हुई।

जुलाई १९१९ में डा० जग्गर ने हालमाऊमाऊ की जाँच प्रति बीस मिनट पर की। पूरे महीने भर यह जाँच होती रही। यद्यपि लावा का धरातल कई-कई फ़ीट नीचा-ऊँचा होता रहा, तथापि इस पर ज्वारभाटे का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता था। इससे यह सिद्ध होता था कि लावा की गहराई अधिक नहीं है।

मओनालोआ और किलाऊ के उद्गारों में अपूर्व असमानता पाई जाती है, यद्यपि दोनों ज्वालामुखी सटे-सटे हैं। मओनालोआ का विशाल चपटा शंकु ४० मील व्यास के धरातल पर १५००० फ़ीट ऊँचा है। इससे बहनेवाला लावा भी हालमाऊमाऊ की भाँति ही अति तरलावस्था में रहता है। इसके उद्गार में किसी प्रकार का भी ठोस पदार्थ नहीं निकलता। लावा का प्रवाह क्रेटर से तो बहुत ही कम होता है। वरन् वह शंकु के पार्श्वों को फोड़ता हुआ बह निकलता है। लावा-प्रवाह का स्थान भी प्रति नवीन उद्गार के साथ बदलता रहता है। १८६८ ई० में लावा का प्रचण्ड उद्गार हुआ था। सागर-तल से ३००० फ़ीट ऊँचे शंकु के आधार से एक सहस्र फ़ीट से भी अधिक ऊँचाई के लावा के फ़ौवार छूटने आरम्भ हुए। इस द्वीप की ओर से यात्रा करनेवाले जलयानों के यात्रियों ने देखा था कि उस समय द्वीप का सम्पूर्ण पूर्वीय भाग आग की विकराल लपटों में धू-धूकर जलता प्रतीत होता था। इस ज्वालामुखी से प्रवाहित लावा की धारा चालीस-पचास मील चलकर जब समुद्र में गिरती है तब लावा ठण्डा होकर काले बालू में परिणत हो जाता है। इसके विपरीत किलाऊ के क्रेटर से निकलनेवाले लावा का प्रवाह कभी भी क्रेटर को लाँघकर बाहर नहीं हुआ। १९२४ के प्रचण्ड उद्गार के अतिरिक्त और भी अनेक प्रचण्ड उद्गार किलाऊ में हो चुके हैं। १७८९ का उद्गार पूर्वोक्त उद्गार की अपेक्षा कहीं अधिक प्रचण्ड और भीषण था। इसमें चट्टानों के अंशात्मक पदार्थ की अपार राशि का उद्गार हुआ था और साथ ही अति भीषण विस्फोट भी। यद्यपि इस उद्गार का विशेष हाल लोगों को नहीं मालूम है तथापि इसके बृहत् गर्त्त के मुख शिखर पर जमी हुई महीन धूल की परत इसी प्रचण्ड उद्गार की स्मृति सजग किये है। १८४८ से १८५५ ई० तक किलाऊ प्रसुप्तावस्था में रहा। इस दर्मियान झील से निकलनेवाला धुआँ और गैसें भी इतनी कम हो गईं कि झील का लावा भी ठण्डा होकर जम गया। ठण्डी होकर जमी हुई लावा की ऊपरी पपड़ी, भीतर की गैसों की भाप के कारण गुम्बजाकार में ऊपर उठ गई। गुम्बज ३०० फ़ीट से भी अधिक ऊँचा हो गया। अगले वर्ष वसन्त ऋतु में इस गुम्बज को फोड़कर ४५-५० फ़ीट ऊँची लावा की धारा बह निकली और बहुत ज़ोर के धड़ाके हुए। थोड़े दिनों में यह गुम्बज नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

जापान का असो-सान ज्वालामुखी

तथापि अधिकाँश ऐसा होता है कि जिन ज्वालामुखियों से लावा का प्रवाह होता है उनसे विस्फोटक उद्गार कम होता है और यदि होता भी है तो उसमें प्रचण्डता नहीं रहती। परन्तु ऐसा कोई नियम अनिवार्य नहीं है। बहुधा ज्वालामुखियों के उद्गार मिश्रित या मध्यम स्वरूप के होते हैं जैसे विस्युवियस का उद्गार जो विस्फोटक भी है और शान्त भी। क्राकाटोआ और काटमाई
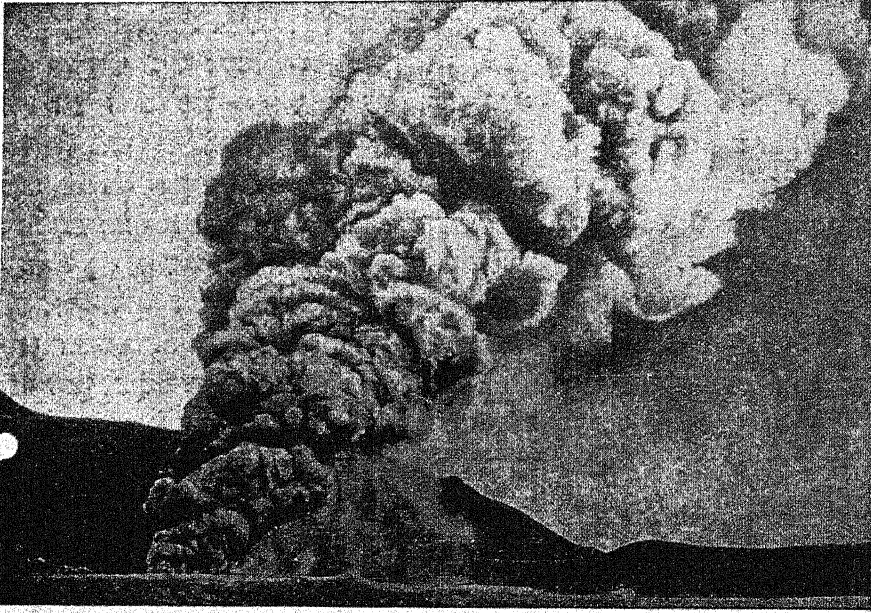
इस प्रकार के गुम्बज अन्य ज्वालामुखियों में भी बनते पाये गये हैं। बहुधा ये गुम्बज उन ज्वालामुखियों के संधिस्थानों पर बन जाते हैं जिनसे अत्यन्त लसलसे लावा का प्रवाह होता है। इन गुम्बजों में मुखगर्त्त नहीं होता और न इनसे लावा ही बहता है। इन गुम्बजों का पार्श्व अत्यन्त ढालू और कभी-कभी एकदम सीधा होता है। जापान के होक्कैडो (Hokkoido) नामक द्वीप के तारूमाई नामक ज्वालामुखी के गर्त्त में १६०६ ई० में इसी प्रकार का एक गुम्बज बनते देखा गया था। अल्युशियन द्वीपसमूह के उत्तरी समुद्र में १७६६, १८८३, १६०६ और १६०६ ई० में इसी प्रकार के गुम्बज उठकर बोगोस्लाफ़ द्वीप बन गये।

उपरोक्त ज्वालामुखियों के उद्गारों की कहानी पढ़ने से हमें साफ़ मालूम हो जाता है कि भूतल के समस्त ज्वालामुखियों में न तो एक ही समय उद्गार होता है और न उद्गार का स्वरूप ही एक-सा होता है। यहाँ तक कि एक ही ज्वालामुखी के समय-समय के उद्गारों में भी भिन्नता पाई जाती है तथा किसी भी ज्वालामुखी के उद्गार का समय नियमबद्ध नहीं है। आज यदि किसी ज्वालामुखी से विस्फोटक उद्गार हो रहा है तब कल उसमें से लावा का प्रवाह भी हो सकता है और संभवतः पूर्व काल में उसमें से लावा का प्रवाह हो भी चुका है।

के उद्गार कल्पनातीत विस्फोटक हुए हैं और इसी प्रकार हवाई द्वीप के ज्वालामुखियों के उद्गार शान्त उद्गारों की पराकाष्ठा के उदाहरण हैं। उद्गार के स्वरूप के अनुसार ज्वालामुखियों की सात श्रेणियाँ जर्मन-भूतत्त्ववेत्ताओं ने निर्धारित की हैं। एक ही ज्वालामुखी समय-समय पर विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत आ सकता है। ये श्रेणियाँ उन ज्वालामुखियों के उद्गारों के अनुसार निश्चित की गई हैं जो आजकल जाग्रतावस्था में हैं। ये श्रेणियाँ हैं:—

१—हवाईअन स्वरूप—उदाहरण मऔना-लोआ और किलाऊ हैं। इसमें शान्त रूप से लावा का प्रवाह होता है। केवल कभी-कभी विस्फोटक रूप भी हो जाता है।

२—स्ट्राम्बोलिअन स्वरूप—स्ट्राम्बोली के उद्गार के सदृश, जिसमें निरन्तर २००० वर्ष से उद्गार हो रहा है और तालबद्ध प्रति १०–१२ मिनट पर इसके गर्त्त के मुख पर लावा की बाढ़ आती है—उसमें बुलबुले उठते हैं, जो फूटकर लावा, राख, बम और स्फटिक-खण्डों की बौछार करते हैं और लावा फिर बैठ जाता है और अदृश्य हो जाता है। कभी-कभी इस तालबद्ध उद्गार-क्रम का विस्फोटक उद्गार खण्डन कर देता है।

३—मिश्रित स्वरूप उद्गार—अधिकांश ज्वालामुखियों के उद्गार इसी श्रेणी के हैं। इनके उद्गार में अंशात्मक

चट्टानें, विस्फोटक ध्वनि के साथ निकलती हैं और लावा का भी प्रवाह होता है।

४—वल्कैनिअन स्वरूप — यह लिपारी द्वीप-पुंज के वल्कन द्वीप के ज्वालामुखी के अनुरूप होता है। लावा बहुत ही अधिक लसलसा होता है और विस्फोटक उद्गारों के बीच-बीच में जमकर कड़ी डाट लगा देता है। इसमें अंशात्मक चट्टानें, राख, धूल आदि का उद्गार होता है परन्तु लावा का प्रवाह नहीं होता।

निकारागुआ का मोमोटोम्बो ज्वालामुखी
जो इस समय भी अपनी ज्वाला उगलना जारी रखे है।

५—**पेलियिअन स्वरूप**—मुखगर्त्त में लावा की डाट जमकर कठोर हो जाती है। आन्तरिक गैस के दबाव से यह डाट ऊपर ढकेल दी जाती है। इसी के पार्श्व को फोड़कर प्रचण्ड आँधी का वेग बाहर फूट निकलता है और शिलामग्न की भाँति शंकु के ढाल से नीचे लुढ़कता है। लास्सेन पार्क में इसी प्रकार का उद्गार देखने में आया था।

६—**प्लीनीअन स्वरूप**—विस्युवियस के प्रथम ऐतिहासिक उद्गार का वर्णन प्लीनी नामक विद्वान् ने अपने पत्रों में इतनी चतुरता से किया है कि विस्युवियस के उस उद्गार जैसे उद्गारों को उसी के नाम पर प्लीनीअन स्वरूप मान लिया गया है। ताम्बोरो, क्राकाटोआ, सेण्टामेरिया, और काटमाई के प्रसिद्ध उद्गारों की गणना इसी श्रेणी के अन्तर्गत की जाती है।

७—**अर्द्ध ज्वालामुखी-विस्फोटक स्वरूप**—इस श्रेणी के अन्तर्गत उस प्रकार के उद्गार आते हैं जिनमें न तो राख-धूल ही निकलती है और न लावा का ही प्रवाह होता है। धड़ाके तथा कभी-कभी भाप के उद्गार ही इस प्रकार के उद्गारों की पराकाष्ठा हैं। जापान के शिरेन (१८८२), बन्दाई सान (१८८६), अज़ूमा सान (१८९३) तथा जावा के गैलुंगुंग ज्वालामुखियों के उद्गार इसी श्रेणी के हैं। लासेन पीक के विचित्र धड़ाके भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

यद्यपि उपरोक्त अन्तिम श्रेणी को छोड़कर शेष ६ श्रेणियों के उद्गार एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं तथापि न केवल वे सब एक ही आग्नेय प्रणाली के विभिन्न स्वरूप हैं वरन् एक ही ज्वालामुखी के मुखगर्त्त से समय-समय पर अन्य छहों स्वरूपों के उद्गार भी देखने में आ जाते हैं।
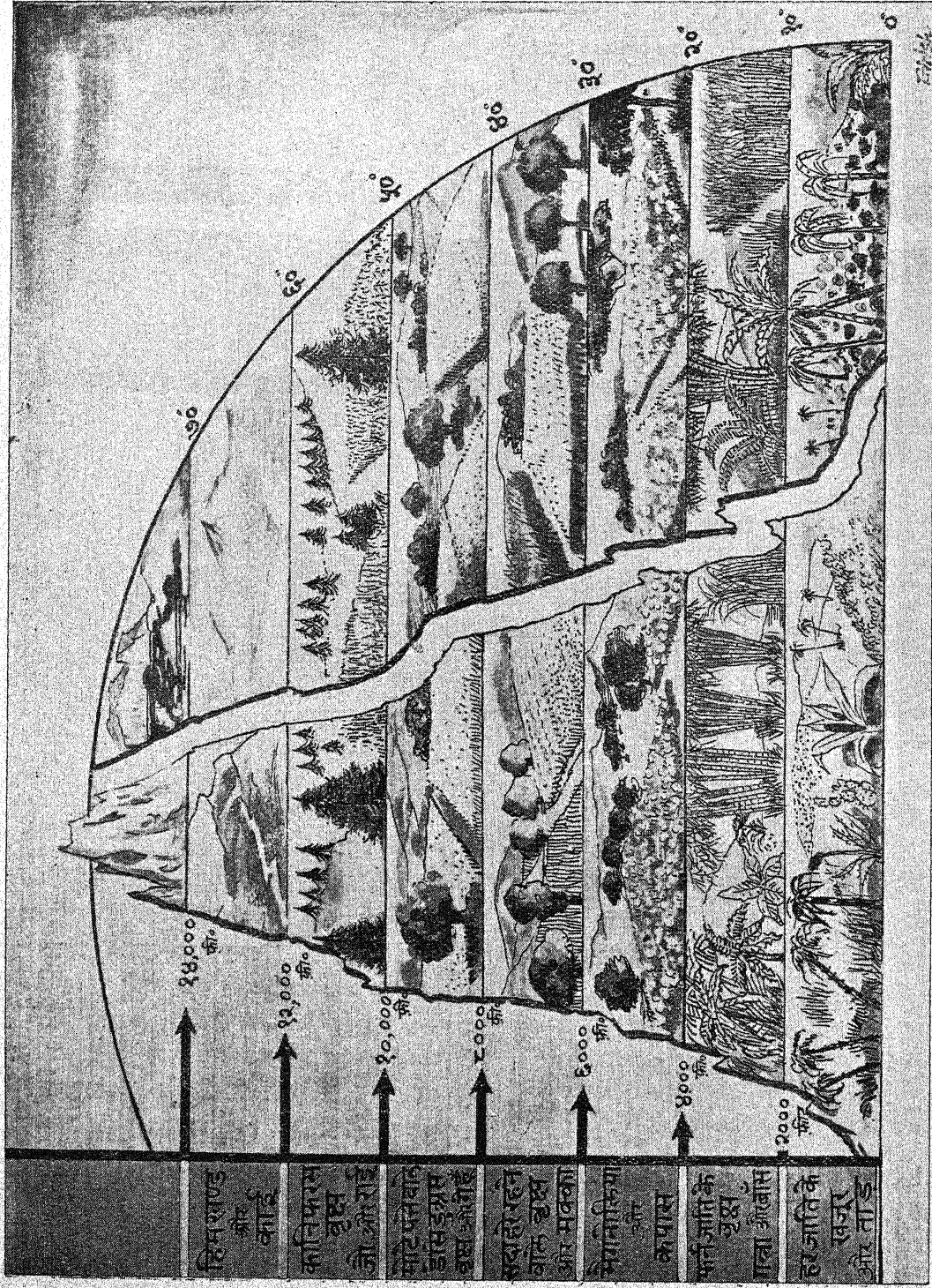
पर्वतों पर जलवायु प्रदेश—पर्वतों पर ज्यों-ज्यों हम ऊँचाई पर चढ़ते जाते हैं हमें विभिन्न जलवायुओं के प्रदेश मिलते हैं, ठीक उसी तरह जिस प्रकार हमें विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ने पर विभिन्न जलवायुओं के प्रदेश मिलते हैं।
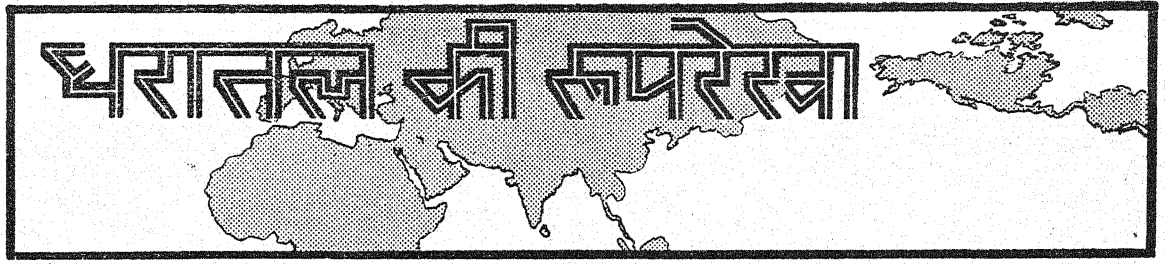
जलवायु के आधार पर धरातल का (प्रादेशिक) विभाजन

हम देख चुके हैं, धरातल के विभिन्न स्थलों पर ताप, वर्षा, पवन आदि की मात्राओं में विभिन्नता पाई जाती है। जलवायु के इन विशेष भागों की स्थान-स्थान की विभिन्नता के प्रधान कारण वे भौगोलिक परिस्थितियाँ हैं, जो उनकी आक्षांशिक स्थिति, महाद्वीपीय अथवा महासागरीय सीमान्तर्गत होना, समुद्रतल से ऊँचाई-नीचाई आदि से उत्पन्न होती हैं। जलवायु की विशेषताओं के अनुसार धरातल का विभाजन कतिपय प्रदेशों में किया जाता है। इन प्रदेशों की प्राकृतिक सीमाएँ निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि दो प्रदेशों के सीमान्तक प्रदेश पर उन दोनों ही प्रदेशों की जलवायु के गुण मिलते हैं। एक प्रकार की जलवायुवाले प्रदेश को लाँघते ही दूसरे प्रदेश की जलवायु का अचानक अनुभव नहीं होता। जलवायु के आधार पर धरातल का विभाजन जिन प्रदेशों में किया गया है, उनका नामकरण जलवायु की विशेषताओं के अनुसार न करके उन प्रदेशों अथवा भूखण्डों के नामानुसार किया गया है, जिनमें किसी नियत प्रकार की जलवायु की अधिक-से-अधिक विशेषताएँ पाई जाती हैं।

जलवायु के विभिन्न अंगों की न्यूनाधिकता के अनुसार धरातल को विभिन्न प्रदेशों में विभाजित किया जा सकता है। ताप के अनुसार यदि विभाजन किया जाय तो अधिक तापवाले प्रदेश, कम तापवाले प्रदेश और इन दोनों के बीच की दशा के प्रदेश होंगे। इसी प्रकार वर्षा के आधार पर तथा पवन के आधार पर भी धरातल का विभाजन हो सकता है। एक दूसरी रीति, 'समान' और 'परिवर्त्तनशील' जलवायु के आधार पर प्रदेशों को विभाजित करने की हो सकती है। 'समान' जलवायु की उस अवस्था को कह सकते हैं, जिसमें तापक्रम का उतार-चढ़ाव बहुत कम हो, वर्षा की मात्रा में अधिक अन्तर न पड़े, तथा वायु की दिशा और वेग सदैव बदलता न रहे। इसके विपरीत जिस प्रदेश में, तापक्रम का दैनिक और वार्षिक उतार-चढ़ाव अधिक रहता हो, वर्षा भी कभी कम और कभी अधिक तथा पवन के वेग और दिशा में भी असमानता पाई जाय, उसे परिवर्त्तनशील जलवायु का प्रदेश कहेंगे। परिवर्त्तनशील जलवायु की उत्पत्ति का कारण परिवर्त्तनशील मौसम है। यदि एक ऋतु में किसी प्रदेश में सदैव वर्षा होती है और दूसरी ऋतु में एक बूँद भी पानी नहीं बरसता, तब उस प्रदेश में साल भर की जलवायु, वर्षा के आधार पर परिवर्त्तनशील मानी जायगी, चाहे दोनों ऋतुओं के ताप में अधिक अन्तर न भी पड़े। इसी प्रकार यदि साल के एक भाग में अधिक ठण्ड पड़ती है और दूसरे में भीषण गर्मी, तब ताप के आधार पर उस स्थान की जलवायु परिवर्त्तनशील मानी जायगी, चाहे वर्षा वहाँ बारहो महीने समान ही होती हो।

जलवायु के निर्माण में सबसे अधिक ताप का प्रभाव पड़ता है, इसलिए धरातल को ताप-कटिबन्धों के अनुसार ही जलवायु-कटिबन्धों में बाँटा जाता है। ४५० ई० पूर्व में परमीनिडेस नामक विद्वान् ने धरातल को, एक उष्ण, दो शीतोष्ण तथा दो शीतप्रधान प्रदेशों में बाँटा था। एक दूसरे विद्वान् कोएप्पन ने धरातल को नौ कटिबन्धों में विभक्त किया। एक केन्द्रीय अतिउष्ण कटिबन्ध, दो उष्ण कटिबन्ध, दो शीतोष्ण कटिबन्ध, दो शीत कटिबन्ध, तथा दो बर्फ़ीले खण्ड। ताप के आधार पर आज भी धरातल को, एक उष्ण, दो शीतोष्ण, तथा दो शीत, इन्हीं पाँच कटिबन्धों में बाँट सकते हैं।

ताप के आधार पर बाँटे गये प्रदेशों को भी, जलवायु के अन्य अंगों के प्रभाव के आधार पर, विभिन्न खण्डों में विभाजित किया जाता है। जैसे एक ही ताप कटिबन्ध में अधिक वर्षावाले प्रदेश भी हो सकते हैं और वर्षा-शून्य प्रदेश भी। इन दोनों खण्डों में सम-ताप होते हुए भी जलवायु विभिन्न होगी। इसी प्रकार पवन का भी प्रभाव ध्यान में रखकर ताप कटिबन्धों को विभिन्न विशेषताओं-

युक्त - जलवायु प्रदेशों में विभाजित किया जाता है। सम-ताप-प्रदेशों में वर्षा और पवन के अतिरिक्त जलवायु पर स्थल और जलखण्डों की निकटता का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। एक ही ताप-कटिबन्ध के स्थल प्रधान खण्ड की जलवायु जल-प्रधान खण्ड की अपेक्षा बिलकुल भिन्न होती है।
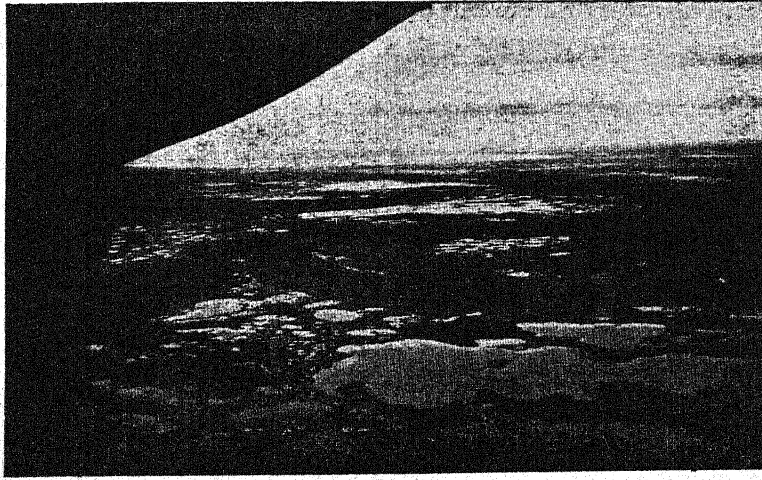
टैगा

ग्रीष्म में इस प्रदेश में बर्फ़ पिघल जाती है और जगह-जगह दलदल बन जाते हैं।

सूर्य की किरणों के झुकाव अर्थात् अक्षांश रेखाओं के आधार पर जो ताप कटिबन्ध माने जाते हैं [देखो वि० भा० पृष्ठ १६६६ भाग १४] वे, उत्तरी शीत कटिबन्ध, दक्षिणी शीत कटिबन्ध, उत्तरी शीतोष्ण कटिबन्ध, दक्षिणी शीतोष्ण कटिबन्ध तथा केन्द्रीय उष्ण कटिबन्ध नामक पाँच कटिबन्ध हैं। इन पाँचों की ताप संबंधी अपनी-अपनी विशेषतायें हैं जिनका प्रभाव जलवायु के निर्माण पर पड़ता है।

उत्तरी और दक्षिणी शीत कटिबन्धों में शीतकाल में इनकी दक्षिणी और उत्तरी सीमाओं के प्रदेश पर भी २४ घंटे तक सूर्य के दर्शन नहीं होते और इन कटिबन्धों के केन्द्र (ध्रुवों) पर तो ६ मास तक सूर्य दिखलाई नहीं देता। इसके विपरीत ग्रीष्मकाल में ध्रुवों पर ६ मास तक सूर्य नहीं डूबता और सीमान्तक प्रदेश पर कम-से-कम २४ घंटे का दिन होता है। ग्रीष्मकाल के लम्बे दिनों और शीतकाल की लम्बी रातों के तापक्रमों में महान् अन्तर रहता है।

इन कटिबन्धों से भूमध्य रेखा की ओर चलने पर २३½° अ० उत्तर और ६६½° अ० उत्तर के बीच के प्रदेश, तथा २३½° अ० दक्षिण और ६६½° अ० दक्षिण के बीच के प्रदेश शीतोष्ण कटिबन्ध कहलाते हैं। इन कटिबन्धों में जाड़ों में भी कभी पूरे २४ घंटे सूर्य विलीन नहीं होता और ग्रीष्मकाल में भी दोपहर को ठीक सिर पर सूर्य नहीं पहुँचता। इन कटिबन्धों से ध्रुव-प्रदेशों की ओर जाने पर, शीत और ग्रीष्म, दोनों ही ऋतुओं में सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं परन्तु गर्मी में दिन बड़े होते हैं और सर्दी में छोटे। जैसे-जैसे हम ध्रुवों की ओर बढ़ते जाते हैं दिनों की लम्बाई गर्मी में अधिक होती जाती है और शीतकाल में कम। गर्मी के दिनों में इन कटिबन्धों में यद्यपि सूर्य की किरणें तिरछी होने से कम गर्मी पड़ती है तथापि दिन इतने अधिक लम्बे होते हैं कि गर्मी की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। इसी प्रकार शीतकाल में सर्दी की मात्रा भी ख़ूब बढ़ जाती है। फलस्वरूप इन कटिबन्धों की शीतकाल और ग्रीष्मकाल की जलवायु में बहुत अधिक अन्तर पड़ जाता है।

केन्द्रीय उष्ण कटिबन्ध, शीतोष्ण कटिबन्धों के बीच में भूमध्य रेखा के उत्तर-दक्षिण समान दूरी तक फैला है। यहाँ पर साल भर में सूर्य की किरणें दो बार ठीक सीधी सिर पर पड़ती हैं। कर्क और मकर रेखाओं के निकट तो कई दिन तक क्रम से २२ जून और २२ दिसम्बर के लगभग सूर्य ठीक सिर पर चढ़ आता है। इस कटिबन्ध में दिन और रात की लम्बाई में साल भर बहुत कम अन्तर पड़ता है।

प्रत्येक ताप-कटिबन्ध को जलवायु के अन्य अंगों की विशेषताओं के अनुसार विभिन्न खण्डों में पुनः विभाजित किया गया है। उष्ण कटिबन्ध में सूर्य का ताप ही प्रधान अंग है इसलिए वहाँ के जलवायु-विभागों को निर्धारित करने के लिए दो बातों का ध्यान रक्खा गया है। (१) भूमध्य रेखा से दूरी और (२) स्थल की प्रधानता। शीतोष्ण कटिबन्ध की जलवायु पर समुद्र का प्रभाव अधिक पड़ता है इसलिए यहाँ पर जलवायु के तीन खण्ड किये जाते हैं। १—समुद्र से दूर स्थल-प्रधान खण्ड (२) समुद्र-तटवर्त्ती पश्चिमीय प्रदेश और (३) समुद्र-तटवर्त्ती पूर्वीय प्रदेश। इन प्रदेशों पर पवन का भी विशेष

प्रभाव रहता है तथा जलधाराओं का भी।

शीत कटिबन्ध की जलवायु दो खण्डों में विभाजित की जाती है। एक उस प्रदेश की जलवायु जहाँ सदैव बरफ़ जमी रहती है, कभी पिघलती ही नहीं। दूसरी उस प्रदेश की जलवायु जहाँ गरमी की ऋतु में थोड़े दिनों के लिए कुछ बरफ़ पिघल जाती है।

उष्ण कटिबन्ध में ताप और वर्षा के आधार पर तीन प्रकार की जलवायु पाई जाती है और उसी के आधार पर उष्ण कटिबन्ध को तीन प्रदेशों में बाँटा जाता है। (प्रथम) भूमध्यरेखास्थ वह प्रदेश है, जहाँ पर लगभग पूरे साल भर तक वर्षा होती रहती है। जिन दिनों सूर्य ठीक सिर पर रहता है, उन दिनों वर्षा और दिनों की अपेक्षा अधिक होती है। आकाश में बादल अधिक रहते हैं। तापक्रम बराबर एक-सा रहता है। दिन और रात के तापक्रम में तो कुछ अन्तर भी रहता है, परन्तु ऋतु-ऋतु के तापक्रम में कुछ भी अन्तर नहीं जान पड़ता। बादलों के कारण यद्यपि तापक्रम बहुत ऊँचा नहीं होने पाता तथापि ७८° फ़ा० और ९०° फ़ा० के बीच में रहता है। पवन बहुत कम चलती है और जो चलती भी है वह ठहर-ठहरकर। भूमध्यरेखा के पासवाले कांगो और एमेज़ान प्रदेश तथा मलय द्वीपसमूह में तापक्रम सदा ऊँचा रहता है। यह प्रदेश सेनीगाल अथवा जलमय भूमध्यरेखा प्रान्त कहलाता है। इसमें सघन और दुर्गम वन हैं, जिनमें घुसना भी सम्भव होता है, केवल सदा उमड़ी रहनेवाली नदियों के मार्ग से ही इस प्रदेश के भीतरी भागों में पहुँचा जा सकता है।

अफ्रीका के बेल्जियन कांगो के भूमध्यरेखीय दुर्गम घने वन

(द्वितीय) सेनीगाल प्रदेश के उत्तर और दक्षिण में भी गरम प्रदेश पाया जाता है। पर इन प्रदेशों में साल के बारहो महीने वर्षा नहीं होती केवल निश्चित महीनों में ही होती है। शरद् ऋतु प्रायः खुश्क परन्तु औसत गरम या शीतल रहती है। इस खण्ड में भी दो प्रकार की जलवायुवाले प्रदेश शामिल हैं। एक सूदान खण्ड और दूसरा मानसून खण्ड।

सूदान खण्ड में प्रायः उन्हीं दिनों वर्षा होती है, जिन दिनों सूर्य ठीक सिर के ही ऊपर रहता है। जाड़े में लगभग ७८° फ़ा० और गरमी में ८३° फ़ा० तापक्रम रहता है। यहाँ बहुधा आँधी चला करती है। इस खण्ड की गरम आरामदेह जाड़े की ऋतुएँ प्रसिद्ध हैं।

मानसून खण्ड में वर्षा निश्चित महीनों में ही होती है। संसार भर में सबसे अधिक वर्षा इसी खण्ड में होती है, लेकिन वर्षा की मात्रा इतनी अधिक अनिश्चित रहती है कि कभी-कभी इस खण्ड के देशों में दुर्भिक्ष की भी नौबत आ जाती है। इस प्रदेश के जाड़े और गरमी के तापक्रमों में विशेष अन्तर रहता है। सालाना औसत तापक्रम तो ८०° फ़ा० के ही लगभग रहता है परन्तु कुछ

स्थानों पर भयंकर गर्मी के दिनों में तापक्रम बहुत अधिक और सर्दी में बहुत कम हो जाता है। मानसूनखण्ड में भी दो प्रकार के प्रदेश हैं। एक तो वह प्रदेश जहाँ गर्मी अधिक पड़ती है, जाड़ा अधिक नहीं पड़ता और दूसरा वह प्रदेश जहाँ जाड़ा बहुत अधिक पड़ता है, यहाँ तक कि कभी-कभी बर्फ़ भी गिर जाती है।

(तृतीय) उष्ण कटिबन्ध का तीसरा प्रदेश, जिसे 'सहारा प्रदेश' भी कहते हैं वह प्रदेश है, जहाँ तापक्रम का विशेष महत्त्व है और वर्षा का सर्वथा अभाव। यहाँ पर जाड़े और गरमी की ऋतुओं के तापक्रमों में तो भारी अन्तर रहता ही है, दिन और रात के तापक्रमों में भी आश्चर्य-जनक अन्तर पाया जाता है। यह प्रदेश उष्ण मरुप्रदेश कहलाता है। इसके एक किनारे से ट्रेड हवायें और दूसरे किनारे से पछुआ हवायें, विपरीत दिशाओं में चलती हैं। गरमी में दिन के समय बालू के तप्त हो जाने के कारण तापक्रम बहुत अधिक बढ़ जाता है। दिन में १००° फ़ा० से ऊपर और रात में ३२° फ़ा० से नीचे का तापक्रम यहाँ बहुधा पाया जाता है। यहाँ कभी भूले-भटके साल-दो साल में कुछ बौछारों के रूप में पानी पड़ जाता है। वायु बड़े वेग से चलती है, जिसमें बालू के कण उड़कर गर्द-गुबार के तूफ़ान उत्पन्न करते हैं।

उष्ण कटिबन्ध की जलवायु भूमध्य रेखा के दोनों ओर लगभग ३५° अक्षांश तक ही पाई जाती है। इसके आगे ध्रुवों की ओर बढ़ने पर शीतोष्ण कटिबन्धों की जलवायु के प्रदेश मिलते हैं। इस जलवायु प्रदेश के भी चार खण्ड किये गये हैं। (१) सागर प्रधान (भूमध्य-सागरीय प्रान्त), (२) स्थल प्रधान, (३) पूर्वी तटस्थ प्रदेश और (४) पश्चिमी तटस्थ प्रदेश।

भूमध्य सागरीय प्रान्त में जाड़े में वर्षा होती है और गर्मी के दिनों में मरुभूमि की सी दशा पाई जाती है। सूखी गर्मी और आर्द्र जाड़े का होना इस जलवायु की विशेषता है। आर्द्र जाड़ा होने के कारण यहाँ कभी कड़ी सर्दी नहीं पड़ती। इस जलवायु के प्रान्त में सूर्य का प्रकाश बहुतायत से रहता है। यह भी इस जलवायु की विशेषता है और इसी के कारण यहाँ रसीले फल बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। इस प्रान्त में शीतकाल की पछुआ हवाओं से तो वर्षा होती ही है, साथ ही कुछ वर्षा चक्रवातों के कारण भी होती है। भूमध्य सागर के तटीय देशों के अतिरिक्त इस प्रकार की जलवायु केलिफ़ोर्निया तथा दक्षिणी गोलार्द्ध के मध्यचिली, केप प्रदेश, पश्चिमी तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड के नार्थ द्वीप में भी पाई जाती है।

उष्ण कटिबन्ध के स्थल-प्रधान देश समुद्र-तट से दूर होने के कारण सागर के प्रभाव से मुक्त रहते हैं। यहाँ पर जाड़े में सर्दी और गर्मियों में गर्मी की अधिकता, जैसे-जैसे तट से स्थल की ओर जाइये, बढ़ती जाती है।
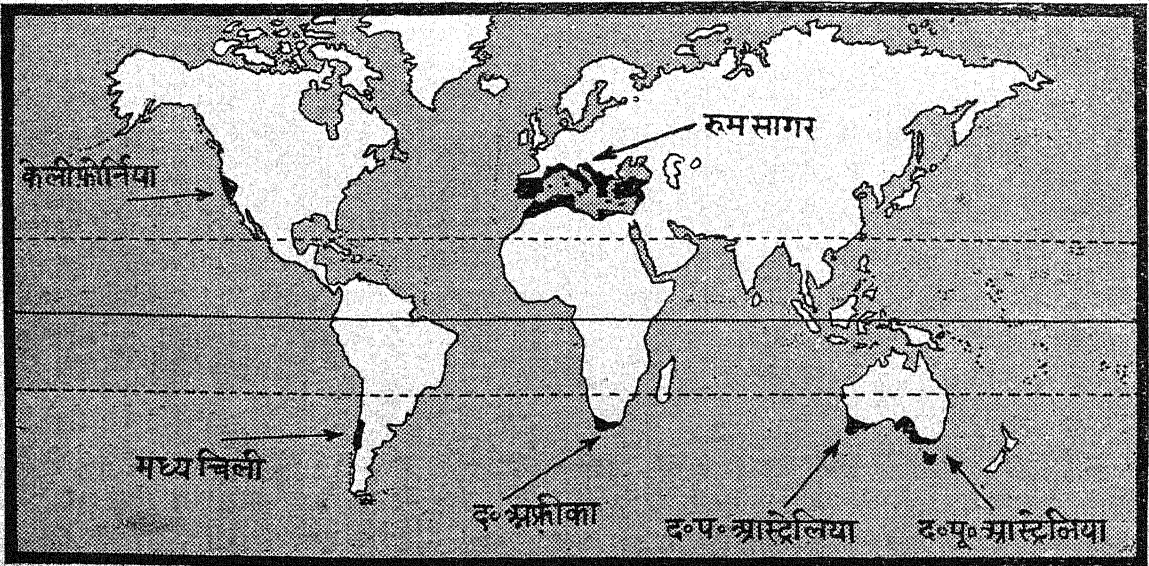
भूमण्डल पर रूमसागरीय जलवायु के प्रदेश—हम देखते हैं कि रूमसागरीय जलवायु उस स्थान पर मिलती है जहाँ ट्रेड हवाएँ तथा ऐण्टी ट्रेड हवाओं की पेटी एक दूसरी को छूती हैं।

समुद्र से बहुत दूर स्थल के भीतर पहुँचने पर गरमी की ऋतु तो बहुत छोटी और जाड़े की ऋतु बहुत बड़ी हो जाती है। तट से विशेष दूर होने के कारण पछुआ हवाओं की गर्मी और वर्षा वहाँ पहुँचने से पहले ही समाप्त जाती है। जाड़े की लम्बी ऋतु में महाद्वीपों के धुर भीतरी भाग, साइबेरिया और मध्य कनाडा आदि अत्यन्त ठण्डे हो जाते हैं और बर्फ़ से ढक जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में ऊँचे अक्षांशों में दिन बड़े होते हैं अतः तापक्रम ऊँचा हो जाता है और प्रायः १००° फ़ा० तक पहुँच जाता है। जाड़ों में इसके विपरीत (–४०°) फ़ा० के लगभग उतर जाता है।

उष्ण कटिबन्ध के स्थल-प्रधान देशों की मुख्य विशेषता उनके जाड़े और गर्मी के तापक्रमों का असाधारण अंतर है। यहाँ वर्षा प्रायः गर्मी के आरम्भ काल में ही होती है और जाड़े में बहुधा बर्फ़ गिरा करती है। वर्षा की मात्रा यहाँ कम होती है परन्तु गर्मी के दिनों में बर्फ़ के पिघलने से पानी प्रचुर मात्रा में लभ्य हो जाता है। इस प्रदेश में घास के विशाल क्षेत्र पाये जाते हैं।

जलवायु पर समुद्र के सामीप्य का प्रभाव

डेथवैली और जिब्राल्टर लगभग एक ही अक्षांश पर स्थित हैं, किन्तु समुद्र से घिरा होने के कारण जिब्राल्टर का तापक्रम गर्मी में केवल ६०° फ़ा० पर पहुँच पाता है, जबकि डेथ-वैली में १३४° फ़ा० पर पारा पहुँच जाता है।

पूर्वीय तट के प्रदेशों की जलवायु यद्यपि लगभग उन्हीं अक्षांशों में पाई जाती है जिनमें भूमध्यसागर वाली जलवायु के प्रदेश पश्चिमीय तटों पर स्थित हैं, तथापि यहाँ पर जाड़े में जो पवन पश्चिम से आती है वह कड़ी सर्दी पैदा कर देती है। तट पर ठंडी धाराओं के बहने से इन प्रदेशों का तापक्रम और भी कम हो जाता है। गर्मी में पवन समुद्र की ओर से आती है इससे इन प्रान्तों में गर्मी में भी वर्षा होती है। घोर ठण्ड और सूखे दिनों का अभाव ही इस प्रदेश कि जलवायु की विशेषता है। समुद्र-तट पर तूफ़ान अधिक आते हैं जो अति विनष्टकारी होते हैं। मंचूरिया और चीन के समुद्र-तटीय-प्रदेश में यह जलवायु पाई जाती है और इसको 'चीनी जलवायु' कहते हैं। इसी प्रकार की जलवायु कनाडा के पूर्वीय तट पर भी पाई जाती है जो 'सेण्ट-लारेन्स की जलवायु' कहलाती है। यहाँ जाड़े अत्यधिक ठण्डे होते हैं और बर्फ़ भी अधिक गिरती है। ग्रीष्म ऋतु में गर्मी भी काफ़ी पड़ती है परन्तु उतनी नहीं जितनी भीतर के स्थल-प्रधान देशों में पड़ती है। जाड़े में बर्फ़ और ओले की और गरमी में पानी की वर्षा होती है परन्तु अधिक मात्रा में नहीं। इन देशों में शीत प्रदेश के वन पाये जाते हैं।
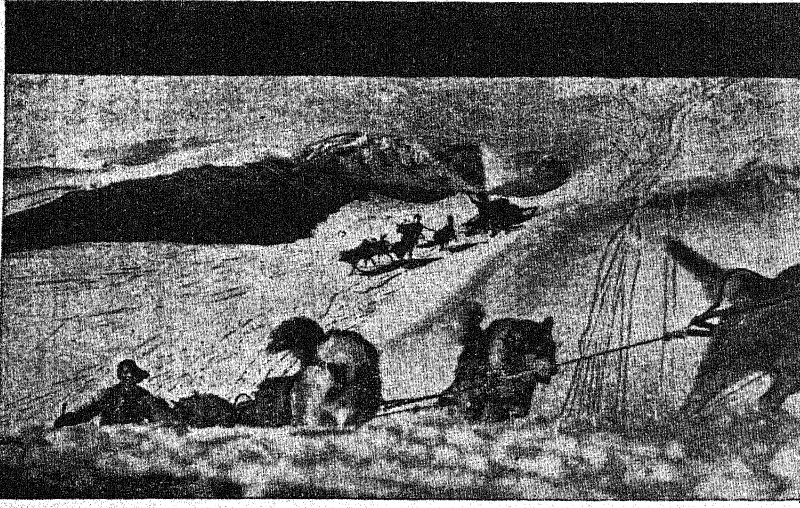
टुण्ड्रा

इस सतत हिम-प्रदेश में जाड़े की ऋतु में पूरे ६ महीने तक सूर्य के दर्शन नहीं होते। ६ महीने की इस लम्बी रात्रि में आकाश में विद्युत् कणों के घर्षण से प्रायः रंग-बिरंगे आलोक उत्पन्न होते रहते हैं।

पश्चिमीय तट के प्रदेश की जलवायु की यह विशेषता है कि न तो यहाँ गर्मी ही अधिक पड़ती है और न जाड़ा ही। गर्मी में समुद्र-जल की शीतलता और जाड़े में उसकी गर्मी विशेषतः गल्फ़स्ट्रीम, इसमें सहायक होती है। वर्षा यहाँ बारहो महीने होती है परन्तु जाड़े की ऋतु के आरम्भ होने के ठीक पूर्व उसकी मात्रा अधिक हो जाती है। जाड़ों में समुद्र-तट पर कुहरा विशेष रूप से पड़ता है। शीतोष्ण कटिबन्ध के प्रान्तों में सबसे अधिक वर्षा यहीं होती है। साइक्लोन यहाँ अधिक चलते हैं जिनके कारण यहाँ के मौसम में अस्थिरता अधिक पायी जाती है। साइक्लोन, कभी-कभी तो गर्मी की ऋतु में भी, ध्रुव प्रान्तों से आनेवाली पवन के योग से बर्फ़ की वर्षा कर देते हैं। इस प्रदेश में सूर्य-प्रकाश की कमी रहती है। पश्चिमी युरुप, ब्रिटिश कोलम्बिया आदि देशों में इसी प्रकार की जलवायु पाई जाती है।

शीतप्रधान कटिबन्ध के आर्किटक तथा अन्टार्क्टिक प्रदेश में ध्रुव वृत्तों के भीतरवाले भाग ग्रीष्म में भी कभी गरम नहीं होते। यहीं निशीथ सूर्य अथवा अर्द्ध-रात्रि के सूर्य के दर्शन होते हैं। ग्रीष्म में हफ़्तों तक सूर्य बराबर दिखाई देता रहता है, परन्तु किरणें बहुत ही तिरछी आती हैं, इसलिए उनमें गर्मी की मात्रा बहुत कम रहती है। दिन और रात दोनों में बराबर ठण्ड रहती है। लम्बी, अँधेरी, खुश्क और ठण्डी रात्रि के बाद लम्बा और ठण्डा प्रकाशयुक्त दिन आता है। इन्हीं को हम शीत और ग्रीष्म ऋतु कहते हैं। ग्रीष्म में कुछ हिमताप और वर्षा भी होती है। धरातल की बर्फ़ भी कुछ पिघलने लगती है जिससे ग्रीष्म में यहाँ दल-दल उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु शीतकाल में बर्फ़ के जमने से धरातल कठोर हो जाता है। यहाँ पर ठण्डी तूफ़ानी पवन, विशेषतः जाड़े में अधिक चला करती है। जो भाग शीतोष्ण कटिबन्ध से मिला हुआ है वह टुण्ड्रा कहलाता है। यहाँ सिवार और ग्रीष्म के कुछ अल्पजीवी पौधों को छोड़कर बड़े पौधों का सर्वथा अभाव है। जानवर भी कम हैं और जनसंख्या भी अति क्षीण है। टुण्ड्रा से आगे ध्रुव-प्रान्त के अटल बर्फ़ वाले प्रदेशों में कभी भी बर्फ़ नहीं पिघलती और यहाँ बर्फ़ के मरुभूमिवाले ऐसे प्रान्त हैं जहाँ पर प्रायः किसी प्रकार का भी जीवन नज़र नहीं आता।

सम्पूर्ण धरातल पर पर्वतों की जलवायु आसपास के प्रदेशों की जलवायु से भिन्न होती है। प्रति ३०० फ़ीट की ऊँचाई पर तापक्रम १ अंश (फ़ा०) गिर जाता है। इसलिए उष्ण कटिबन्ध के उच्च पर्वत पर चार-पाँच मील चढ़ने से हम इन सभी जलवायु सम्बन्धी कटिबन्धों को देख सकते हैं जो हमको धरातल पर ध्रुव की ओर पाँच-छः सहस्र मील की यात्रा में दिखाई देंगे। पहाड़ का निचला ढाल (प्रायः ३००० फ़ीट की ऊँचाई तक) समीपवर्त्ती उष्ण प्रदेश के समान ही होगा। अधिक ऊँचाई का प्रदेश शीतोष्ण कटिबन्ध के समान होगा। हिम रेखा के ऊपर का भाग ध्रुव प्रदेशों-सा ठण्डा होगा। अन्तर केवल इतना ही है कि पर्वतों की भिन्न-भिन्न ऊँचाई पर दिन-रात की लम्बाई में विभिन्न कटिबन्धों की भाँति अन्तर नहीं पड़ता। जाड़ों में ऊँचे पहाड़ों पर बर्फ़ का गिरना स्वाभाविक है। केनिया पहाड़ की चोटी, यद्यपि वह भूमध्य रेखा पर गरम देश के बीच में स्थित है, सदैव हिमशिलाओं से आच्छादित रहती है।
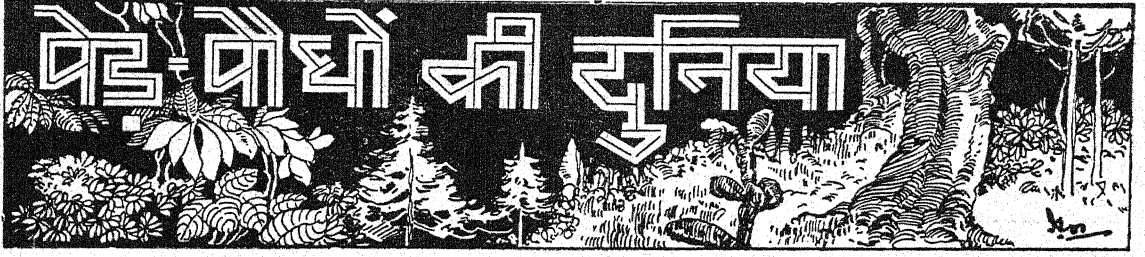
कार्बन एसिमिलेशन के कुछ असाधारण तरीक़े

परजीवी और मृत-जीवी पौधे—अर्थात् चोर-लुटेरे तथा गिरहकट पौधे

कार्बन-एसिमिलेशन और प्रोटीन संश्लेषण जैसी जीवन-व्यापारिक क्रियाओं पर ध्यान देने से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि पौधों में, हवा की कार्बन और भूमि के जल तथा लवणों के मेल से, अमूल्य वस्तुएँ तैयार होती हैं, जिन पर संसार के सब प्राणियों का जीवन निर्भर है। पर यह अधिकार केवल हरी वनस्पतियों को प्राप्त है जिनमें, पर्णहरित के प्रभाव से शकर, स्टार्च व दूसरे बहुमूल्य द्रव्य बनते हैं। कदाचित् आपने कुछ ऐसे पौधे भी देखे होंगे जिनमें पर्णहरित नहीं होता। ऐसे पौधों को कार्बन कैसे मिलता है; अर्थात् इनकी ख़ूराक का प्रश्न कैसे हल होता है?—इस समय हम आपका ध्यान इसी की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि पर्ण-हरित के अभाव में पौधों को भी पशुओं की वृत्ति धारण करनी पड़ती होगी; क्योंकि इस दशा में इनमें ख़ूराक की समस्या जल, लवण और कार्बन-डाइआक्साइड-जैसी सादी वस्तुओं से नहीं हल हो सकती। इसलिए जिन पौधों में क्लोरोफ़िल नहीं होता उन्हें, हमारी-आपकी तरह, बने बनाए कार्बोहाइड्रेट्स, प्रोटीन व दूसरी आर्गैनिक वस्तुओं की ज़रूरत पड़ती है। प्रकृति में इन पौधों के दो प्रधान समूह हैं—एक पर-जीवी (Parasites) और दूसरे मृत-जीवी या मृत-भोजी (Saprophytes)।
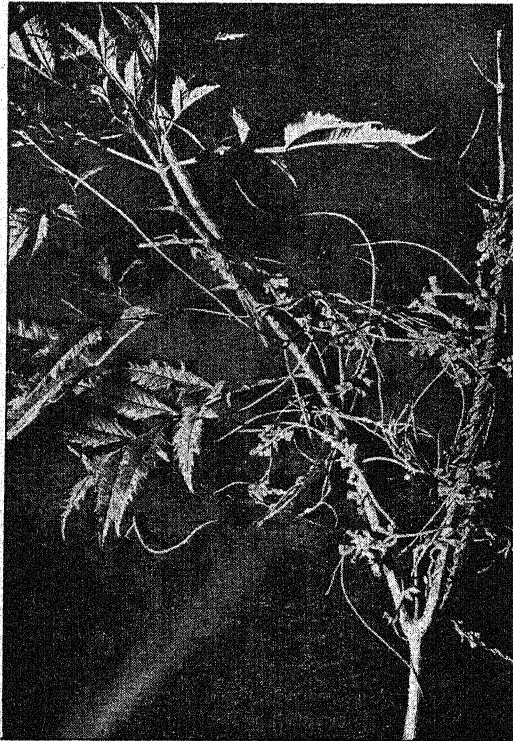
"अमरबेरि बिनु मूल की, प्रतिपालत को ताहि"
इस पद से जितनी दीनता प्रगट होती है, अमरबेलि की जीवनी इसके विपरीत उतनी ही रहस्यमय है। इसकी पीली नाज़ुक बौंड़ियाँ प्रतिपालक का ख़ून शोषण करती हैं।
(फ़ोटो श्री० वि० सा० शर्मा द्वारा)

परजीवी पौधे दूसरे जीवों से बने बनाए खाद्य पदार्थ ग्रहण करते हैं और मृत-जीवी मरे जीवों व पशुओं के मलमूत्र या अन्य आर्गैनिक वस्तुओं से।

वास्तव में मृत-भोजी और परजीवी वृत्ति फंजाई (Fungi) और बैक्टिरिया (Bacteria) की विशेषता है; क्योंकि इनमें स्वभावतः क्लोरोफ़िल नहीं होता जिससे इन्हें, विवश हो, इस प्रकार का जीवन धारण करना पड़ता है; परन्तु आप सुनकर आश्चर्य करेंगे कि फूल-फल-बीज-वाले पौधों में भी कुछ ऐसी क्षुद्र प्रकृति के पौधे हैं। इस समय हमारा इन्हीं से प्रयोजन है। ऐसी प्रकृतिवाले पौधों के विषय में यह कहना कदापि अनुचित न होगा कि, हमारे समाज के आचरणहीन पुरुषों की भाँति ये, प्रायः बिना

परिश्रम के ही अपनी सारी व्यवस्थायें पूरी करने का प्रयत्न करते हैं। इनमें से कुछ तो (अर्थात् मृत-भोजी पौधे) भिखारियों की तरह बची-खुची व सड़ी-गली वस्तुओं पर ही सन्तोष कर लेते हैं; पर कुछ (अर्थात् परजीवी पौधे) चोर-लुटेरों और डाकुओं की तरह दूसरों पर धावा बोल, उनका सर्वस्व छीनकर मौज उड़ाने का प्रयत्न करते हैं। कोई-कोई तो ऐसे आलसी स्वभाव के हैं कि सर्व-सम्पन्न होते हुए भी, मानों स्वभाववश, वे ऐसे निकृष्ट जीवन बिताने के लिए विवश हैं। इन अन्तिम श्रेणी के पौधों में प्रायः साधारण पौधों की भाँति, सब अंग भी होते हैं और बहुधा इन्हें जल, लवण, हवा और रोशनी आदि की कुछ कमी भी नहीं रहती; फिर भी ये कुछ-न-कुछ द्रव्य दूसरे जीवों व सड़ी-गली वस्तुओं से खींचते ही रहते हैं। आंशिक (partial) परजीवी पौधे इसी श्रेणी की वनस्पतियाँ हैं।

चि० ३—रैफ्लीज़िया

संसार का यह सबसे बड़ा फूल है। इसके सूत्रवत् अंग पड़ोस के पेड़-पौधों से अपने लिए ख़ूराक चुराया करते हैं। इस फूल की प्रत्येक पंखुड़ी प्रायः १ फुट लम्बी होती है। पूरे फूल का चौड़ान एक गज़ से भी अधिक होता है और इसके मधुकोश में लगभग पाँच सेर पानी आ सकता है।

परजीवी पौधे

गुप्तबीज पौधों में अमरबेल (आकाशबेल) (चि० १), गँठवा (इसे सरसों का बाँदा भी कहते हैं), बैलैनोफोरा (*Balanophora*) (चि० २), रैफ़्लीज़िया (*Rafflesia*) (चि० ३) इत्यादि ध्यान देने योग्य परजीवी पौधे हैं। परजीवी जड़ों के प्रसंग में विश्व-भारती के सातवें खंड में इनकी चर्चा की गई है।

परजीवी पौधे दूसरे पेड़-पौधों व जीवों पर उगते हैं और किसी-न-किसी उपाय से इनसे बने-बनाये खाद्य रस ग्रहण करते हैं। इनमें और उपरिजात-मूल-पौधों (Epiphytes) में बड़ा अन्तर है। उपरिजात पौधे केवल आश्रय और प्रकाश के लिए ही अन्य वृक्षों और झाड़ों पर उगते हैं।

जिस वृक्ष पर परजीवी पौधा उगता है उसे पालक या प्रतिपालक (Host) कहते हैं। प्रतिपालक को अपने ही लिए नहीं वरन् परजीवी पौधे के लिए भी द्रव्य निर्माण करना पड़ता है। यहाँ पर हम कुछ साधारण पर-जीवी पौधों की चर्चा करेंगे।

चि० २—बैलैनोफोरा

यह पौधा देखने में कुकुरमुत्ते की जाति का प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में यह फूल-फल-बीजवाले पौधों की श्रेणी का है। (चित्र मि० शमशुद्दीन अहमद द्वारा)

अमरबेल (*Cuscuta*)—अमरबेल से प्रायः सभी परिचित होंगे। यह अक्सर हमारे पास-पड़ोस के झाड़ों और वृक्षों पर फैली रहती है। वैसे देखने में यह सूत-जैसी नाज़ुक बेल पूर्णतया निर्दोष प्रतीत होती है। इसकी पत्रहीन, पीली-पीली, कोमल बौंड़ियों को बेर, बबूल अथवा दूसरे पेड़ों की शाखों पर झूमते देख भला कौन अनुमान करता होगा कि जिस वृक्ष पर ये बौराई हुई घूम-घूमकर लिपट रही हैं उसका इनसे कुछ अनिष्ट होने की भी सम्भावना है। परन्तु इसमें कुछ रहस्य है। यही नाज़ुक बौंड़ी, जिसे आप अनायास ही चुटकी से मसलकर चूर-चूर कर सकते हैं, विशाल वृक्षों और कंटकमयी झाड़ों पर पसर, उनके कठोर अंगों में अपनी कोमल शोषण जड़ें प्रवेश कर, उन्हीं का रस चूस मौज से पलती और फूलती-फलती है। इस बेल के विषय में कवि की धारणा कि "अमरबेल बिनु मूल की, प्रतिपालत को ताहि।" यथार्थ नहीं प्रतीत होती, क्योंकि अमरबेल में अनेक जड़ें होती हैं जो सुई की भाँति, प्रतिपालक के अंगों में बिंधी रहती हैं (चि० ४)। हाँ, यह बात अवश्य है कि इन जड़ों का भूमि से लगाव नहीं होता। सम्भव है इसी से कवि भ्रम में पड़ गया हो। अमरबेल को साधारण पौधों की तरह भूमि से पानी, लवण जुटाने और हवा की कार्बन-डाइऑक्साइड अलग कर इनके संयोग से स्टार्च तथा दूसरे पदार्थों की रचना का झंझट नहीं करना पड़ता। इसे प्रतिपालक से ही सारे पदार्थ बने बनाये प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए इसकी जड़ों का भूमि से लगाव नहीं होता।

चि० ४—अमरबेल
इस परजीवी पौधे के अंगों से शोषण जड़ें निकलकर प्रतिपालक के अंग में बिंध जाती हैं। (चि० मि० शमशुद्दीन अहमद द्वारा)

अमरबेल के बौंड़े प्रतिपालक की टहनियों से लिपटे रहते हैं। यदि इन डोरों में से एक को भी, जिस टहनी पर वह फैला हो उससे कोई छुड़ाना चाहे तो अमरबेल के कपट का अवश्य पता चल जायेगा। यह बेल आधार से खनखजूर की तरह चिपटी मिलेगी और इसे आप सुगमता से छुटा नहीं पायेंगे। अधिक ज़ोर से खींचने पर सम्भव है प्रतिपालक की टहनी भी बेल के साथ उखड़ आये। दोनों को ध्यान से देखने पर बेल से निकली जड़ें प्रतिपालक के अंगों में काँटों की तरह बिंधी मिलेंगी (चि० ४), जिन्हें हज़ार कोशिश करने पर भी आप बाहर नहीं खींच सकेंगे। बरबस अलग करने पर इनका अधिकांश भाग टूट-टूटकर प्रतिपालक के अंग में ही रह जायगा। अगर आप उस जगह की, जहाँ पर ऐसी जड़ें प्रतिपालक के अंग में चुभी हों, परजीवी पौधे समेत कत्तल काट खुर्दबीन से जाँच करें तो ये कोमल जड़ें कठोर-से-कठोर वृक्षों के वक्षःस्थल में उनके आन्तरिक तन्तुओं से जुटी मिलेंगी। इस प्रकार अमरबेल की नसें प्रतिपालक की नसों से संबंधित हो जाती हैं और वहाँ से उपार्जित द्रव्य का निरन्तर शोषण करती रहती हैं।

प्रारम्भ में अमरबेल के बीज तर भूमि या पेड़ों की सड़ी गली छाल पर उगते हैं। कहते हैं, साधारण रूप से, ये बीज उगने में अपने पड़ोस के दूसरे पौधों के बीजों से कुछ अधिक समय लेते हैं। प्रायः ये पासवाले पौधों के बीजों के उगने के महीने-डेढ़ महीने बाद अंकुरित होते हैं। अमरबेल के लिए यह बात बड़े सुभीते की है, क्योंकि इस तरह जिस समय इसके बीज उगते हैं, इनके पास ही में छोटे-छोटे अन्य पौधे मिल जाते हैं, जिनके ऊपर आक्रमण कर यह बौंड़ने लगती है।

भूमि पर जिस समय अमरबेल के बीज उगते हैं, इनका एक सिरा साधारण जड़ की तरह नीचे जा घुसता है और दूसरा बढ़कर बाहर की ओर फैलने लगता है। धीरे-धीरे बीज में संचित पदार्थ पौधे की बाढ़ में व्यय हो जाते हैं और उसके सामने ख़ूराक़ की विकट समस्या आ खड़ी होती है। पर्णहरित न होने से अमरबेल हवा की कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को काम में नहीं ला सकती। इधर बचे-खुचे पदार्थ भी, जो विशेषतः इसके निचले मांसल भाग में संचित रहते हैं, व्यय हो जाते हैं, जिससे यह भाग पिचककर मुर्झाने लगता है और अन्त में सूख जाता है। इस तरह अमर-बेल का भूमि से लगाव छूट जाता है। इस समय इसका ऊपरी हिस्सा तेज़ी से बढ़ता है और अगर इसे किसी दूसरे

पौधे का सहारा मिल गया तो उसे जकड़कर अमरबेल सदैव के लिए निश्चिन्त हो जाती है। अब यह बौंड़ी इस पौधे पर पसर-पसर उसके अंग-अंग में शोषण जड़ें घुसेड़ इनकी राह पौधे का मधुर कोश-रस पानकर फूलों से लद-फद झूमने लगती है। अगर संयोगवश कहीं इस तरह का अवसर हाथ न लगा और अमरबेल की पकड़ में कोई पौधा न आया तो वह भूमि पर चेतनाशून्य कुछ दिनों तक यूँही पड़ी रहती है; मानों किसी सुअवसर की ताक में लगी हो। प्रायः उसे ऐसा अवसर मिल भी जाता है; क्योंकि या तो आस-पास में कोई-न-कोई पौधा ही उग खड़ा होता है या अगल-बगल के किसी-न-किसी वृक्ष-झाड़ की टहनी ही इसकी चपेट में आ जाती है। यदि दुर्भाग्य से कोई भी अवलम्ब न मिला तो अन्त में बेल सूख जाती है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस अमरबेल में अन्य पौधों का सहारा मिलते ही अनेक शोषण जड़ें फूट आती हैं, वही तर और उपजाऊ भूमि पर यूँही पड़ी-पड़ी निर्मूल सूख जाती है।

जब अमरबेल को किसी पौधे का आधार मिल जाता है तो वह उससे कई बार लिपटने के बाद प्रायः अपना अगला सिरा ऊपर उठाती है जिससे अक्सर इसकी पकड़ में, पौधे की अन्य टहनी अथवा पास-पड़ोस के पौधों का कोई अंग आ जाता है जिसके आधार पर यह बौंड़ने लगती है। कभी-कभी हवा के संसर्ग से भी इसकी लतायें झूल-झूलकर एक वृक्ष से दूसरे पर पहुँच जाती हैं। जहाँ-जहाँ अमरबेल का पालक से स्पर्श होता है वहाँ-वहाँ इससे शोषण जड़ें फूट आती हैं। प्रारम्भ में ये जड़ें साधारण जड़ों की भाँति चिकनी होती हैं, परन्तु कुछ ही समय बाद इनके अधित्वक् के कोश बाहर को उभर आते हैं जिससे जड़ें खुरदरी हो जाती हैं। इन कोशों से एक प्रकार का रस भी निकलता है। इस रस और जड़ों के खुरदरेपन के कारण वे प्रतिपालक से चिपक जाती हैं। सबसे विचित्र बात तो यह है कि साधारण दशा में अमरबेल सूखी टहनियों और डंठलों से नहीं लिपटती पर अगर कहीं विवश हो उसे ऐसे अंगों का सहारा लेना पड़ता है तो इससे निकली जड़ें केवल ऊपर चिपटकर ही रह जाती हैं और प्रतिपालक के अन्दर नहीं धँसती। मगर जब कभी पौधे का हरा-भरा अंग क़ाबू में आ जाता है तो बेल के ऊपर उभरे दन्दाने बढ़कर प्रतिपालक के अंग को छेदकर अन्दर धँस जाते हैं। अन्त में इन्हीं से शोषण जड़ें उत्पन्न हो जाती हैं। अन्दर पहुँचने पर अमरबेल की शोषण जड़ों के कोश प्रतिपालक के कोशों के बीच फैल जाते हैं। इन दोनों के रसवाहक तन्तु आपस में मिल जाते हैं, और अमरबेल इनके द्वारा प्रतिपालक से उपार्जित द्रव्य ग्रहण करने लगती है। इस प्रकार इन वस्तुओं के ज़ोर पर, बिना ख़ुद स्टार्च या प्रोटीन के निर्माण के झंझट में फँसे ही, अमरबेल बढ़ती रहती है और वह फूल-फलों से लद जाती है।

चि० ५—गँठवा—(चोर के भाई गिरहकट)

चित्र में बाईं ओर तम्बाकू का पेड़ है और दाहिनी ओर फूलों से लदा हुआ गँठवा—एक कुशल चोर की भाँति गँठवा अपने पड़ोसी तम्बाकू का सर्वस्व छीनने का अन्दर-ही-अन्दर प्रयत्न कर रहा है। (फ़ोटो श्री० वी० सा० शर्मा द्वारा)

गँठवा या सरसों का बाँदा (*Orobanche*)—गँठवा एक दूसरे गुप्तबीज-समूह का परजीवी पौधा है जैसा पहले कहा जा चुका है (अं० ७ पृ० ८३७) यह सरसों, गोभी, बैंगन, ट्रोपिओलम, तम्बाकू (चित्र ५) तथा और कितने ही पौधों की जड़ों पर उगता है और इन्हीं से अपने लिए ख़ूराक प्राप्त करता है। प्रसंगवश इस पौधे की चर्चा पहले भी की जा चुकी है। इस पौधे का रहस्य अमरबेल से भी विचित्र

है। बाग़-बग़ीचे या खेती-बारी में इसे दूसरे पौधों के बीच उगे देख किसी को गुमान नहीं हो सकता कि इससे किसी पौधे को कुछ हानि भी पहुँचती होगी (चित्र ५)। परन्तु आपको स्मरण होगा कि यह भीतर-ही-भीतर अपने पड़ोसी की जड़ काटता रहता है। इसका भेद तभी खुलता है जब कोई इसे पड़ोस के पौधे के सहित जड़ से उखाड़कर सावधानी से इसकी जाँच करे।

संयुक्त-प्रान्त में उगनेवाले गँठवे का पौधा बालिश्त-डेढ़ बालिश्त ऊँचा होता है। भूमि के ऊपर इस पौधे की केवल फूलों से लदी मांसल, मटमैली या कुछ पीलापन लिए डाँडी दीखती है। कभी-कभी डाँडी से शाखें भी फूटती हैं। फूलों के अतिरिक्त डालियों पर इधर-उधर छोटे-छोटे वल्कपत्र भी होते हैं, पर साधारण पत्तियाँ इनमें नहीं होतीं। फूल प्रायः नीले या बैंगनी रंग के होते हैं और देखने में कुछ-कुछ तिल्ली के फूल-जैसे लगते हैं; परन्तु इन दोनों में अन्तर होता है। इस पौधे से एक प्रकार की दुर्गन्ध आती है। पौधे का निचला भाग भूमि के अन्दर प्रतिपालक की जड़ों से जुटा रहता है। पकड़ की जगह यह अंग प्रायः सूजा रहता है। इस स्थान पर प्रतिपालक की जड़ भी सूजी रहती है। अमरबेल की भाँति गँठवा की जड़ के रसवाहक तन्तु भी प्रतिपालक की जड़ के रसवाहक तन्तुओं से जुटे रहते हैं। इन दोनों के तन्तु आपस में इतने बिंध जाते हैं कि इनको अलग-अलग पहचानना कठिन हो जाता है। प्रायः देखने पर यही जान पड़ता है कि गँठवे की जड़ केवल प्रतिपालक की जड़ की एक शाख है। प्रतिपालक द्वारा उपार्जित द्रव्यों का ही उपभोग कर, अमरबेल की भाँति, यह पौधा भी पनपता और फूलता-फलता है। इसे भी स्टार्च-संश्लेषण आदि क्रियाओं के झंझट में नहीं पड़ना पड़ता।

बैलैनोफोरा (*Balanophora*)—गँठवा की श्रेणी का एक दूसरा पौधा है, जिसे बैलैनोफोरा कहते हैं (चि० २)। यह पौधा भी अपनी ख़ूराक प्रतिपालक की जड़ों से ग्रहण करता है। रहन-सहन के तरीक़े में बैलैनोफोरा गँठवा से भी ज़्यादा अद्भुत है। फूलने-फलने के दिनों को छोड़ अन्य समय इस पौधे का भूमि के ऊपर प्रायः पता भी नहीं चलता, फिर भी इसका मांसल कन्द भूमि के अन्दर सुरक्षित छिपे-छिपे, चोर की भाँति, पालक से खींच-खींच द्रव्य संचित करता रहता है। समय पर इन्हीं अर्चित द्रव्यों से पौधे का पालन-पोषण होता है।

फूलने का समय निकट आते ही बैलैनोफोरा धरती के फूल की तरह ज़मीन फोड़कर बाहर निकलता है; परन्तु बीज पककर झर जाते ही इसके ज़मीन के ऊपर के भाग की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है। फिर भी इसके निचले भाग से ज़मीन के अन्दर-ही-अन्दर अनेक नवीन जड़ें निकलकर प्रतिपालक के तन्तुओं से जुड़ी रहती हैं। अन्य परजीवी पौधों की तरह इस पौधे की जड़ों के रस-वाहक तन्तु भी पालक की जड़ों के रसवाहक तन्तुओं से मिले रहते हैं और उससे प्रयोजनीय पदार्थ ग्रहण करते रहते हैं। हमारे देश में बैलैनोफ़ोरा हिमालय और खसिया पर्वत पर शाहबलूत-जैसे वृक्षों की जड़ों पर उगता है। इसका पुष्पव्यूह आकर्षक और बड़ा तथा फूल रंगदार होते हैं।

रैफ़्लीज़िया (*Rafflesia*)—परोपजीवी गुप्त-बीज पौधों में रैफ़्लीज़िया विशेष उल्लेखनीय है। यह पौधा जावा तथा सुमात्रा के द्वीपों में होता है। फूल को छोड़ इसके शेष अंग अत्यन्त क्षीणकाय होते हैं। वास्तव में ये अंग कुकुरमुत्ते की जाति के पौधों के अंगों के समान केवल मकड़ी के जाले-जैसे सूतों (hyphae) के रूप में ही होते हैं। ये सूत (हाइफ़ी) प्रतिपालक के तन्तुओं में बिखरे होते हैं और वहीं से खाद्य-रस का वे शोषण करते हैं। रैफ़्लीज़िया का फूल, जैसा हम दूसरी जगह लिख चुके हैं (अं० ७ पृ० ८३८) अद्भुत और बड़ा होता है (चि० ३)। इसकी गणना वनस्पति सृष्टि की अपूर्व रचनाओं में है। जैसा आपको स्मरण होगा इस फूल की प्रत्येक पंखुड़ी लगभग एक फ़ुट लम्बी होती है और पूरे फूल की चौड़ान प्रायः तीन हाथ होती है। फूल के बीच में मधुकोश होता है जिसमें क़रीब-क़रीब पाँच सेर पानी आ जाता है—यह मधुकोश क्या है, एक अच्छा-ख़ासा कुंड है। फूल का वज़न सात-आठ सेर से भी अधिक होता है। ऐसे फूल को घने जंगलों में शाहबलूत या किसी दूसरे विशाल वृक्ष की सूखी-साखी जड़ों के पास खिला हुआ देख कौन विस्मित न होगा ?

अमरबेल, गँठवा, बैलैनोफ़ोरा और रैफ़्लीज़िया के अतिरिक्त और भी बहुत-से परजीवी प्रकृति के पौधे हैं। फूलवाले पौधों में ही इनकी अनेक जातियाँ मिलेंगी।

फिर भी साधारण पौधों के लिए ऐसी प्रकृति अस्वा-भाविक है और जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, छत्राक और बैक्टिरिया समूह में ही ऐसे अनेक उद्भिज मिलते हैं। यथार्थ में इन पौधों का जीवन ही परजीवी या मृतजीवी होता है। आगे चलकर किसी दूसरे स्थान पर हम इनकी चर्चा करेंगे। यहाँ हम केवल इतना ही कह देना चाहते

हैं कि ऐसे परजीवी पौधे के प्रकोप से हमारी खेतीबारी को बड़ी हानि पहुँचती है। इनकी बदौलत हर साल लाखों रुपये मिट्टी में मिल जाते हैं। इनके कारण उत्पन्न हुई व्याधियों से माली और किसान सभी हैरान रहते हैं। वे इन्हें समूल नष्ट करने की चेष्टा में वैज्ञानिकों का मुँह ताक रहे हैं और प्रत्येक उन्नतिशील देश में इसका भरसक प्रयत्न भी हो रहा है। कितने ही माइकॉलोजिस्ट (Mycologists) [फंजाई (Fungi) और उनसे पैदा होनेवाली व्याधियों की जाँच करनेवाले वैज्ञानिक], बैक्टिरियालोजिस्ट (Bacteriologists) [बैक्टिरिया और इनसे उत्पन्न होनेवाली व्याधियों की जाँच करनेवाले वैज्ञानिक] तथा अन्य वैज्ञानिक इसकी धुन में संलग्न हैं। कोई गेहूँ के गेरुई रोग का नाश कर किसानों को सुखी बनाने और लाखों रुपये के लाभ के मनसूबे बाँध रहा है, कोई आलू, सेब, सन्तरा अथवा कंदमूल फल को सड़ने-गलने से बचाकर सुरक्षित रखने की धुन में लगा है तो कोई किसी और उपयोगी पौधे को इनके प्रकोप से बचाने की कोशिश में सोते-जागते बोर्डो-मिक्सचर और सल्फर-डाइऑक्साइड के सपने देख रहा है।

आंशिक परजीवी पौधे

ऊपर जिन पौधों का उल्लेख किया जा चुका है, उनमें क्लोरोफिल नहीं होता। इस श्रेणी के पौधे खाद्य पदार्थों के लिए अन्य जीवों पर पूर्णतया निर्भर रहते हैं। इस समय हम जिन पौधों की चर्चा करने जा रहे हैं, उनमें यद्यपि पर्णहरित रहता है, फिर भी ये किसी अंश में अपने लिए खाद्य-रस अन्य पौधों से ग्रहण करते हैं। इस श्रेणी के पौधे, कार्बन तो वायु से प्राप्त करते हैं, पर जल और नमकों के घोल के लिए ये प्रतिपालक के आश्रित रहते हैं। इनमें से कुछ तो साधारण पौधों की भाँति भूमि पर उगते हैं। ऐसी दशा में भला इनके स्वभाव का बाहर से किसी को क्या पता चल सकता है? फिर भी इनसे कभी-कभी प्रतिपालक को भारी हानि पहुँचती है।

बाँदा (*Loranthus*)—आंशिक परजीवी पौधों में बाँदा से प्रायः सभी परिचित होंगे (चि० ६)। परजीवी जड़ों के प्रसंग में इस पौधे की कुछ चर्चा की गई है। संयुक्त-प्रान्त में यह पौधा विशेषतः आम, बकायन, शीशम आदि पर उगता है। जाड़े के दिनों में इसकी फूलों से लदी डालियों की छटा निराली रहती है।

चि० ६—बाँदा
यह आंशिक परजीवी पौधा बहुधा आम, शीशम, बबूल आदि पर उगता है—
(फ़ोटो श्री० वी० सा० शर्मा द्वारा)

जैसा पहले कहा जा चुका है, बाँदे के बीज लसलसे होते हैं और लसोड़े के बीजों की तरह जिस जगह वे गिरते हैं वहीं चिपक जाते हैं। इस पौधे के पके फलों को चिड़ियाँ चाव से खाती हैं, पर इनकी बीट के साथ बीज ज्यों-के-त्यों बाहर निकल आते हैं। इस तरह इन बीजों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने में चिड़ियाँ बड़ी मदद करती हैं। शाखों पर पड़ी बीट में मौजूदा बीजों से वहीं कालान्तर में बाँदे के पौधे उग आते हैं।

जिस समय बाँदे का बीज उगता है इससे अंकुर निकल प्रतिपालक की डाल की ओर झुककर उससे चिपट जाता है। यहाँ से धीरे-धीरे इसकी प्रारम्भिक जड़ शाख के अन्दर

प्रवेश करने लगती है। अन्त में बाँदे और प्रतिपालक के तन्तु आपस में मिल जाते हैं। अमरबेल की शोषण जड़ों की तरह बाँदे की शोषण जड़ें भी प्रतिपालक की शाखों में चुभी रहती हैं, परन्तु ये जड़ें अमरबेल की जड़ों के मुक़ाबले में बहुत मोटी और मज़बूत होती हैं और मेख की तरह प्रतिपालक की शाखों में ठुकी रहती हैं। जहाँ प्रतिपालक का बाँदा से मेल होता है वहाँ एक कठीली गाँठ पड़ जाती है। कभी-कभी तो ये पुरानी गाँठें आदमी के सिर से भी बड़ी होती हैं।

बाँदे में साधारण पौधों की तरह हरी पत्तियाँ मौजूद होती हैं जिससे इस पौधे में, अन्य उपकरण जुटने पर, स्टार्च की रचना होती है; परन्तु, भूमि से लगाव न होने के कारण, इसे जल और खनिज लवणों के लिए पालक का ही सहारा लेना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि जिस वृक्ष या झाड़ पर बाँदा लगा होता है उसे न केवल अपने लिए वरन् परजीवी बाँदा के लिए भी भूमि से पानी और लवण खींचना पड़ता है। आपस में दोनों के कोष्ठ-तन्तु मिले रहते हैं जिससे ये खाद्यपदार्थ बाँदे में पहुँचते रहते हैं।

विस्कम (*Viscum*) या **मिसल्टो** (*Misletoe*)—विस्कम (चि० ७) भी बाँदे के ही समूह का एक आंशिक परजीवी पौधा है जो बाँदा की भाँति ही अन्य वृक्षों पर उगता है। यह पौधा मंसूरी, नैनीताल, अल्मोड़ा आदि पहाड़ी स्थानों में शाहबलूत-जैसे वृक्षों पर अक्सर देखने में आता है। बाँदे की भाँति इस पौधे में भी साधारण हरी पत्तियाँ होती हैं जिनके प्रभाव से इसमें अन्य हरे पौधों की तरह कार्बन एसिमिलेशन होता है पर खनिज लवणों और जल के लिए यह भी प्रतिपालक पर-आश्रित रहता है।

चि० ८—चंदन

इस पौधे के लिए 'ऊँच निवास नीच करतूती' वाली कहावत चरितार्थ होती है। चित्र में दाहिनी ओर चंदन और बाईं ओर एक अन्य पौधा है। दोनों पौधों को गमले में लगाकर फ़ोटो खींची गयी है।
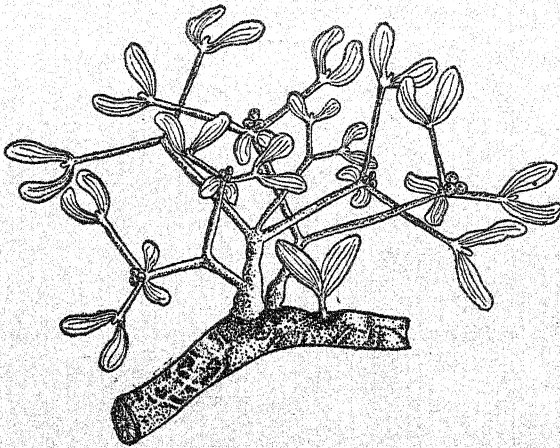
चि० ७—विस्कम

बाँदे की भाँति विस्कम भी आंशिक परजीवी पौधा है। चित्र में मोटी शाखा प्रतिपालक की है। (चि० मि० शमशुद्दीन अहमद द्वारा)

बाँदे की तरह विस्कम के भी पके फल चिड़ियाँ खाती हैं, और अपने बीट के साथ बीजों को दूर-दूर फैलाती हैं, परन्तु नैनीताल आदि ऊपर गिनाये स्थानों में उगनेवाले विस्कम अर्थात् (*Viscum japonicium*) विस्कम जैपोनिकम के बीज विचित्र ढंग से इधर-उधर फैलते हैं। इसके फल के अन्दर का लसदार पदार्थ फल पकने पर अन्दर से स्वयं वेग के साथ निकल पड़ता है जिससे बीज गज़-दो गज़ या इससे भी दूर जा गिरते हैं। हवा की मदद से वे सम्भवतः और भी दूर चले जाते होंगे। इस ढंग से विस्कम के बीज प्रतिपालक की एक शाख से दूसरी पर और प्रायः एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष

पर जा पहुँचते हैं। शाखों पर चिपके विस्कम के बीज बाँदे के बीजों की तरह कालान्तर में उग आते हैं।

चंदन—चंदन की भी गिनती किसी अंश में परोपजीवी प्रकृति के वृक्षों में की जा सकती है। इसमें साधारण पेड़-पौधों की भाँति जड़, तना, पत्ती, फूल-फल सभी अंग होते हैं। साधारण पौधों की तरह यह भूमि पर उगता भी है (चि० ८), और इन्हीं की तरह यह हवा से कार्बन ग्रहण कर स्टार्च की रचना भी करता है; परन्तु फिर भी यह अपनी शोषण जड़ों द्वारा पास के पौधों की जड़ों से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है (चि० ६), और उन्हीं से छिपे-छिपे खाद्य-पदार्थ ग्रहण करता है। कितनी आश्चर्यजनक बात है कि ऐसा शानदार वृक्ष प्रायः घास-फूस से भी कुछ-न-कुछ छीन-झपट लेता है। चंदन के भाई-बन्धुओं में कुछ और भी इसी प्रकृति के पौधे हैं। कटुका वर्ग (Scrophulariaceae) या जलनीम के समूह में भी कुछ आंशिक परजीवी पौधे होते हैं।

चि० ६—चंदन और प्रतिपालक की जड़ें

इस चित्र में दिखलाया गया है कि चंदन की जड़ें अपने प्रतिपालक की जड़ों से कैसे मिल जाती हैं। इन दोनों की जड़ों के तन्तु आपस में सम्मिलित हो जाते हैं और इस प्रकार चंदन प्रतिपालक द्वारा उपार्जित द्रव्य शोषण करता है। (फ़ोटो मि० शमशुद्दीन अहमद द्वारा)

मृतजीवी पौधे

परजीवी प्रकृति की तरह मृतजीवी प्रकृति भी फँजाई और बैक्टिरिया की ही विशेषता है। इन दोनों ही श्रेणी के अनेक उद्भिज गलीज़ व सड़ती-गलती वस्तुओं पर मौज से जीवन व्यतीत करते हैं; परन्तु कोई-कोई ऊँची श्रेणी के पौधे भी ऐसे स्थानों पर उगते हैं जिसमें आर्गैनिक वस्तुएँ अधिक होती हैं। इन पौधों की जड़ों का छत्राक समूह के किसी-न-किसी पौधे से सम्बंध रहता है। फंगस की सूत से भी महीन हाइफी पौधे की जड़ों के हर ओर लिपटी रहती है (चि० ११ अ)। इन हाइफी की सहायता से ही पौधे की जड़ें आर्गैनिक वस्तुओं का शोषण करती हैं। किसी-किसी पौधे में फंगस कोशों के अन्दर भी अड्डा जमा लेता है (चि० ११ ब)। साधारण पौधों में मानोट्रोपा (*Monotropa*), निओटिया (*Neotia*) ऐसे पौधों के उदाहरण हैं। जिस भूमि में आर्गैनिक द्रव्य नहीं होते वहाँ ये दोनों ही पौधे नहीं उगते। इन पौधों की पेड़ी मांसल होती है और इस पर छोटे-छोटे वल्क-पत्र होते हैं, पर साधारण हरी पत्तियाँ नहीं होतीं। इनकी जड़ें मोटी तथा घनी होती हैं। इन जड़ों पर फंगस लिपटा रहता है। निओटिया में फंगस जड़ों के बाहरी कोशों को छेद उसके वल्क-कोशों में जा डटता है। दोनों ही पौधों में फंगस बाहर से आर्गैनिक द्रव्य ग्रहण कर उन्हें इन पौधों को पहुँचाता है। इस तरह इन पौधों को प्रयोजनीय द्रव्य, जो साधारण दशा में कठि-

चि० १०—मानोट्रोपा
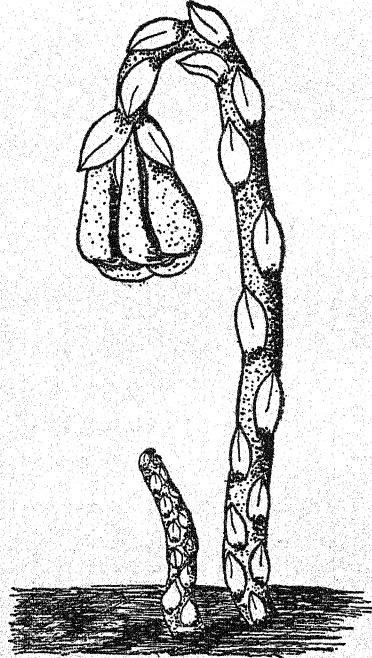
यह पौधा सड़ी-गली वनस्पतियों पर उगता है। इसमें साधारणतः पाई जानेवाली हरी पत्तियाँ नहीं होतीं। (चि० मि० शमशुद्दीन अहमद द्वारा)

नता से मिलते हैं, फंगस के सहयोग से अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। किसी-किसी दशा में फंगस को भी थोड़ा-बहुत लाभ हो जाता है। एक तो उसे पौधों की जड़ों में आश्रय मिलता है दूसरे उसका सूखे से भी बचाव रहता है। इस प्रकार के जीवन को, जहाँ दोनों ही साझीदार कुछ-न-कुछ लाभ उठाते हों, सिम्बियोसिस (symbiosis) कहते हैं।

चि० ११—अ
(Exotrophic mycorrhiza)
जड़ के ऊपरी भाग से फंगस हटा दिया गया है। यहाँ फंगस जड़ के बाहर-ही-बाहर फैला रहता है। फंगस की हाइफी बाहर से आर्गैनिक द्रव्य ग्रहण करती हैं।

निओटिया और मानोट्रोपा श्रेणी के पौधे पर्णहरित के अभाव में भी बढ़ते और फूलते-फलते हैं। इन्हें कार्बोनिक वस्तुएँ पृथ्वी की आर्गैनिक वस्तुओं से फंगस की सहायता द्वारा प्राप्त हो जाती हैं।

कुछ लोगों का मत है कि नियोटिया और मानोट्रोपा जैसे फूल-फलवाले पौधे मृतजीवी प्रकृति के हैं। परन्तु कुछ लोगों का अनुमान यह है कि ये पौधे अपनी जड़ पर उगनेवाले फंगस (माइकोराइज़ा) पर केवल परजीवीवृत्ति से जीवन व्यतीत करते हैं।

बिना क्लोरोफिलवाले पौधों में भोजन प्राप्त करने का मृतजीवी वृत्ति सबसे सरल ढंग है। जब ये पौधे बीज, स्पोर्स (रेणु) या किसी दूसरे रूप में सड़ती-गलती पत्तियों या जानवरों के मल-मूत्र-मांस पर पहुँच जाते हैं तो इनसे कई तरह के रस निकलकर इन वस्तुओं पर पहुँच जाते हैं और इन्हें सादे घुलनशील और प्रसरणशील वस्तुओं में परिणत कर देते हैं। इन्हीं को मृतजीवी पौधे ग्रहण करते हैं। इन पदार्थों को वे फिर पेचीदा वस्तुओं में बदलते हैं और इस प्रकार इनके अंग बनते और बढ़ते हैं और इन्हें काम-काज के लिए शक्ति मिलती है।

आंशिक मृतजीवी पौधे

कुछ पौधे केवल कुछ अंश में ही मृतजीवी स्वभाव के होते हैं। साधारण मृतजीवी पौधों की भाँति इनका भी फंगस के साथ लगाव रहता है पर आंशिक परजीवी पौधों की भाँति इनमें साधारण हरी पत्तियाँ भी होती हैं। इस भाँति इनमें स्टार्च-संश्लेषण मामूली ढंग से होता है पर इनकी जड़ों पर फैले फंगस की सहायता से भूमि की आर्गैनिक वस्तुओं से भी इन्हें खाद्य-रस मिलते रहते हैं। सम्भव है कि इन पौधों की जड़ों पर फैले फंगस की हाइफी जो बाहरी भूमि में भी पसरी रहती हैं, आर्गैनिक द्रव्य ग्रहण करने के साथ-साथ मूल रोमों की तरह जल और नमकों के घोल भी ग्रहण करती हों। क्योंकि जिन पौधों की जड़ों पर ऐसा फंगस होता है, उनमें या तो मूलरोम होते ही नहीं हैं या होते भी हैं तो बिल्कुल थोड़े-से।

यहाँ पर हमने संक्षेप में कुछ ऐसे पौधों की लीला वर्णन की है जो वनस्पति-समाज की मर्यादा भंग कर, साधारण पौधों की प्रकृति के विरुद्ध प्रत्येक स्थान पर सुलभ प्रकाश, वायु, जल, नमक-जैसे पदार्थों का भरोसा त्याग, अपनी स्वतन्त्रता को तिलाञ्जलि दे, लुके-छिपे औरों की कमाई हड़पकर या बची-खुची, सड़ी-गली त्याज्य आर्गैनिक वस्तुओं के आसरे पतित अवस्था में जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे पौधों को आप भिखमंगे, चोर, लुटेरे, गिरहकट, डाकू कुछ भी कहें अनुचित न होगा। परन्तु इतने ही पर इनकी नीचता का अंत नहीं हो जाता वरन् इनमें से कोई-कोई अपने समाज के बाहर पशु-संसार पर भी आक्रमण करते हैं। ऐसे पौधे हिंसक पशुओं की भाँति अनेक जन्तुओं का शिकार करके उन्हीं पर अपनी ज़िन्दगी बसर करते हैं। अगले प्रकरण में हम कुछ ऐसे पौधों का वर्णन करेंगे।
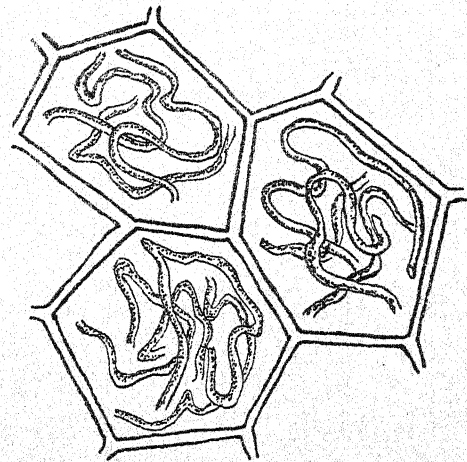
चि० ११—ब
(Endotrophic mycorrhiza)
यहाँ फंगस की हाइफी
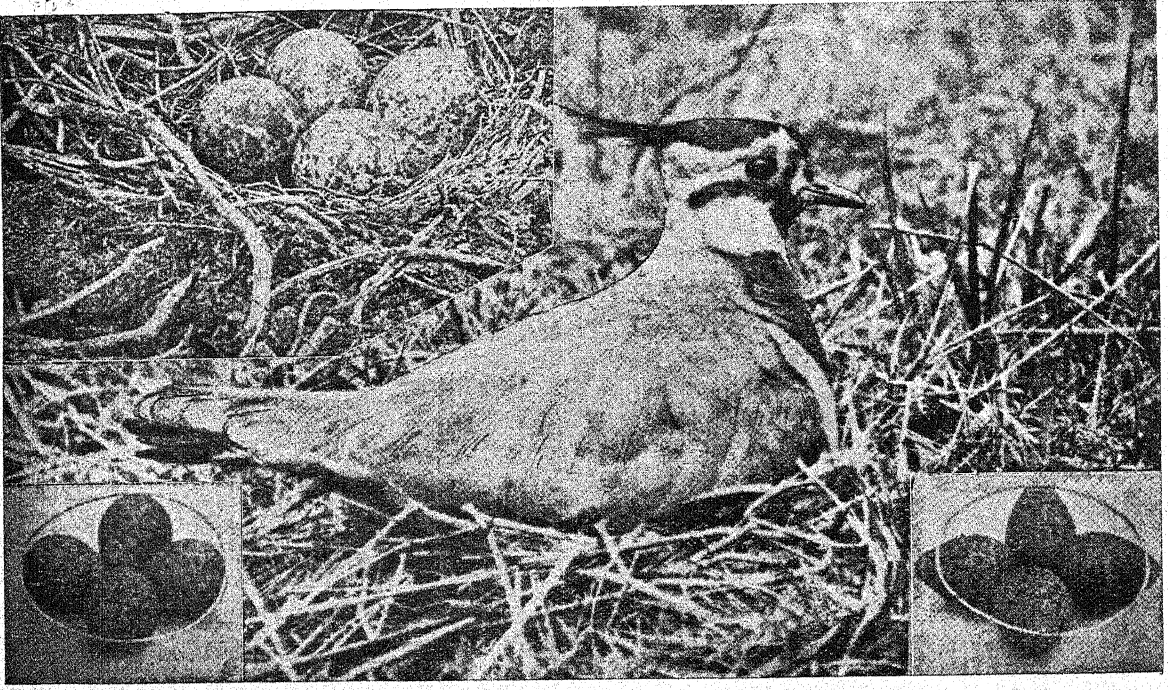
लैपविंग अपने अण्डे को से रही है।

चित्र में बायीं ओर दिखलाया गया है कि किस प्रकार अण्डे न्यूनतम जगह में सँजोकर रखे जाते हैं। उनका सँकरा सिरा भीतर की ओर रहता है। दाहिनी ओर वे ही चार अण्डे इस प्रकार रखे गये हैं कि उनका चौड़ा सिरा भीतर की ओर है। चित्र से ही स्पष्ट है कि वे पहले की अपेक्षा अब ज़्यादा जगह घेर रहे हैं।
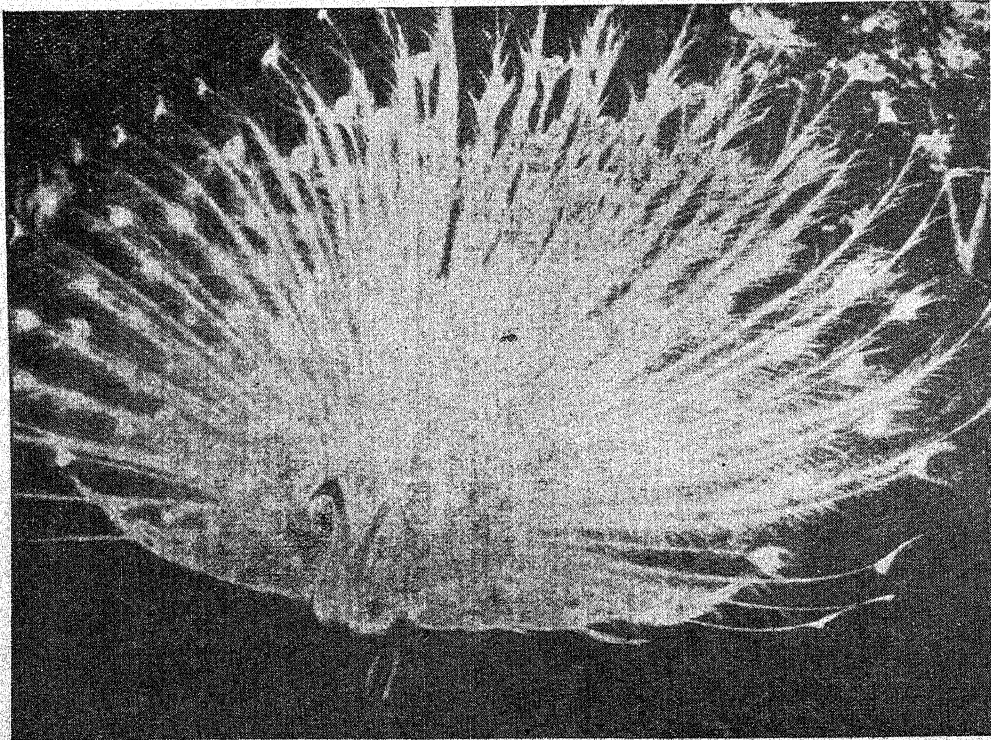
इन्द्रधनुष के विविध चटकीले रंगों से सुशोभित मोर के पंख को देखकर किसका चित्त लुभा नहीं जाता?
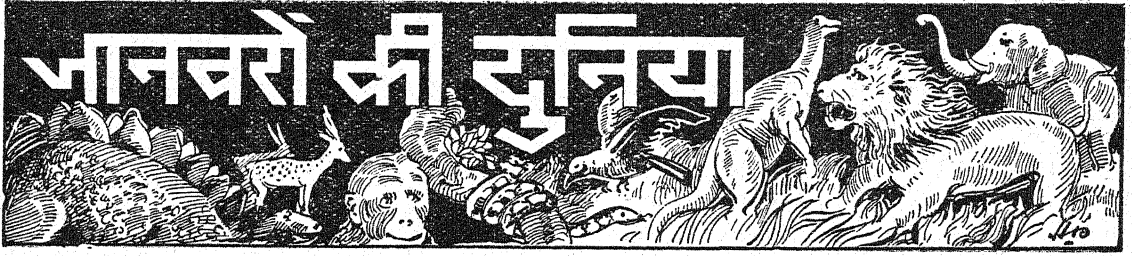
भारतीय तथा विदेशी पक्षी (१)

आकाश की दुनिया में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरनेवाले पक्षीगण इस सृष्टि का केवल सौन्दर्य ही नहीं बढ़ाते, वरन् अनेक क्षेत्रों में मनुष्य के लिए वे परम उपयोगी भी साबित होते हैं—इस लेख में इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत तथा आगेवाले लेख में आप ऐसे कुतुहूलपूर्ण प्राणी के बारे में पढ़ेंगे, जिसने वायु को अपना घर बना लिया है। इनमें से अनेक के साहचर्य्य से इतना उत्कृष्ट और ताज़गी से भरा उल्लास प्राप्त होता है, जितना अन्य किसी साधन से मनुष्य को प्राप्त नहीं हो सकता। कौन-सा ऐसा कवि है जो पक्षियों के मधुर संगीत तथा उनके रंग-बिरंगे परिधान से प्रभावित न हुआ हो? कितने ही कलाकारों ने पक्षियों के जीवन के चित्रों का सोल्लास-हृदय से निर्माण किया है।

केवल वे ही व्यक्ति जो पक्षियों की मनोरमता के घनिष्ट सम्पर्क में आ चुके हैं, इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि पक्षियों के बारे में जानकारी हासिल करने से हमारे जीवन की सरसता और उल्लास कितना बढ़ सकता है। इनके निरीक्षण तथा उनकी संगीत-सुधा के पान से हमें जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आधुनिक युग के थियेटर, सिनेमावाले बासी और रूढ़िगत आमोद-प्रमोद की अपेक्षा कहीं अधिक शुद्ध और स्थायी है।

पक्षी-अनुराग से उत्पन्न हुआ आह्लाद तथा उनका सौन्दर्य, ये दोनों ही वर्णनातीत हैं—

चक्रवाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई॥
सुन्दर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥

—तुलसीदास

पक्षियों के सौन्दर्य का वर्णन कवि की प्रकृति के अनुसार भिन्न होगा ही।

ग्रन्थकार, कवि और लेखकों ने हर देश में और हर भाषा में अपने-अपने दृष्टिकोण से पक्षियों के बारे में लिखा है तथा कविताएँ बनाई हैं। "कई अवसरों पर पक्षियों के अवलोकन ने मेरे अन्दर एक सान्त्वनापूर्ण और प्रशान्त उत्साह की प्रेरणा की है।" भारतीय पक्षियों के सुप्रसिद्ध लेखक मि० डगलस डेवार एक स्थान पर कहते हैं, "किन्तु परिन्दों से जो मुझे आनन्द प्राप्त होता है वह अपेक्षाकृत अधिक उल्लास-मय है, इसमें ताज़गी का पुट भी अधिक है जो प्रायः परिहास और विनोद की भावना में परिणत हो जाती है। इसका श्रेय विशेषतया भारतीय पक्षियों को प्राप्त है। भारत के कौओं की चुहल-पहल को आध घण्टे तक देखने के उपरान्त भी यदि किसी व्यक्ति को विनोद न प्राप्त हो, तो अवश्य उसे ६ महीने के लिए पागलख़ाने में भरती हो जाना चाहिए।"

तुलसीदासजी रामायण में कहते हैं—

बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृङ्गा॥
बोलत जल कुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥

फिर जनक की वाटिका में गौरीपूजन को जाती हुई सीता देखती हैं—

चातक कोकिल-कीर-चकोरा। कूजत बिहग, नटत कल मोरा॥
मध्य बाग सरु सोह सुहावा। मनिसोपान बिचित्र बनावा॥
बिमल सलिलु, सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गूँजत भृङ्गा॥

साधारणतया पक्षी हमारे आस-पास के वातावरण और हमारी वाटिका का सौंदर्य बढ़ाते हैं। इनकी मन-मोहकता के पीछे इनकी चपलता, इनकी जागरूकता, इनका सौंदर्य तथा इनका लालित्य है। मिस्टर एफ़० डब्ल्यू० हेडले (F. W. Headly) ने एक स्थान पर कहा था 'अन्य जीवों के मुक़ाबले में पक्षियों के अन्दर

सबसे अधिक जीवन भरा हुआ मालूम पड़ता है। एक लिहाज़ से पक्षियों को सृष्टि के समस्त जीवों में सर्वोपरि स्थान दिया जा सकता है। आकाशगामी होने के नाते स्थल-जीवों के मुक़ाबले में पक्षियों को प्रधानता प्राप्त है। प्रकृति ने इन्हें दुहरी नियामत प्रदान कर रखी है।

पक्षियों की प्रमुख उपयोगिताएँ

सौन्दर्य और भावुकता के विचार से पक्षीगण अनुपम तो हैं ही, इनके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी मनुष्य के लिए ये अत्यन्त उपयोगी हैं। अपने मधुर संगीत से वे हमारे हृदय को आह्लादित करते हैं और अपने चटकीले रंग और सौन्दर्य से हमारी इन्द्रियों को वे प्रफुल्लित करते हैं। कृषि में भी वे हमें सहायता पहुँचाते हैं तथा अन्य क्षेत्रों में भी वे हमारे लिए उपयोगी साबित होते हैं। अवश्य अनेक पक्षी ऐसे भी हैं जो अनाज और फल खाते हैं तथा उनसे हमें किसी प्रकार का लाभ नहीं पहुँचता। किन्तु इनमें से अनेक पक्षी ऐसे हैं जो अन्य तरीक़ों से हमें फ़ायदा पहुँचाते हैं। सभी वैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि समष्टि रूप से पक्षी की जाति मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

मनुष्य सोचता है कि वह सृष्टि का सर्वशक्तिमान प्राणी है, किन्तु सचमुच ऐसी बात है नहीं। सृष्टि का प्रभुत्व वास्तव में कीड़े-मकोड़ों (insects) को प्राप्त है। मनुष्य ने सबसे ख़ूँख़ार स्तनपायी जीवों तथा सबसे घातक उरंगमों (reptiles) को अपने क़ाबू में कर लिया है, किन्तु कीड़े-मकोड़ों के आक्रमण के सामने मनुष्य तथा उसकी कृतियाँ दोनों ही हार खा जाती हैं। किसे नहीं मालूम कि संसार के भिन्न-भिन्न देशों में टिड्डियों के उपद्रव अथवा पिस्सुओं द्वारा जनित प्लेग कितनी क्षति मनुष्य को पहुँचाता है? कीड़े-मकोड़ों की उत्पत्ति इतनी तीव्र गति से और प्रचुर मात्रा में होती है, और वे इतना अधिक खाते हैं कि यदि उन्हें तथा उनकी सन्तान को भक्षण करनेवाले पक्षी इस सृष्टि में न होते तो समस्त भूमिपटल के पेड़-पौधे कभी के साफ़ हो गये होते। अकेला एक उदाहरण पर्याप्त होगा—गणना करके देखा गया है कि आलू के कीड़े (potato bug) का एक जोड़ा यदि बिना किसी बाधा के सन्तानोत्पत्ति कर सका, तो अकेले एक ऋतु में उससे ६०,०००,००० कीड़े उत्पन्न हो जायँगे। इस गति से जिस कीड़े की संख्या बढ़ सकती हो, वे आलू की समूची फ़सल को ख़त्म करने में कितनी देर लगाएँगे? इसकी कल्पना आप स्वयं कर सकते हैं। एक केटरपिलर (caterpillar) दिन भर में अपनी तौल की तीन गुनी पत्तियाँ खा जाती है। केवल इस बात से ही आप इनकी सर्वभक्षी भूख की भीषणता का अन्दाज़ लगा सकते हैं। यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि इस हिसाब से यदि घोड़ा अपना रातिब खाने लगे, तो प्रति २४ घण्टे में उसे एक टन घास खानी पड़ेगी। रेशम का कीड़ा ५६ दिनों में जितनी पत्तियाँ खा जाता है, उसका वज़न कीड़े के अण्डे में से निकलने के समय के वज़न का ८६००० गुना होता है! १०० अण्डों में से यदि एक में से भी कीड़ा निकलकर बड़ा हुआ तो भी ये कीड़े वनस्पति के लिए महाविनष्टकारी साबित होंगे।

फिर इन सर्वभक्षी कीड़ों को पृथ्वीतल पर अपरिमित संख्या में बढ़ने तथा अन्य जीवों की समग्र खाद्य-सामग्री को चट कर जाने से कौन बचाता है? यह मनुष्य के बस की बात नहीं है। उसने अनेक तरकीबों से अपने फ़ार्म के खेत तथा बाग़-बग़ीचों को इनके विनष्टकारी प्रभाव से बहुत कुछ अंशों में सुरक्षित बना रक्खा है, किन्तु बाहर के खुले खेतों और वनों में उसका कोई बस नहीं चलता—कीड़े-मकोड़ों के किसी भयानक आक्रमण के समय युद्ध के मैदान से भागे हुए भयभीत व्यक्ति की तरह उसे भी वहाँ से भागना ही पड़ता है। न कोई बीमारी, मौसम, अन्य कीड़े या न कोई जानवर ही हमें इस विपदा से त्राण दिला सकते हैं। सारांश यह कि कीड़ों के उपद्रव को रोकने में हम नितान्त असमर्थ हैं। फिर वह कौन-सी शक्ति है जो इस विपदा से हमारी रक्षा करती है? ये ही पक्षी—पक्षीगण जिनकी ख़ूराक के प्रधान अंश कीड़े-मकोड़े होते हैं, प्रकृति में कीड़े-मकोड़ों की संख्या का समतुलन स्थिर रखते हैं। इस बात के अनेक उदाहरण मौजूद हैं कि पक्षियों के उन्मूलन के कारण कितनी भयंकर व्याधियों का सामना अनेक देशों को करना पड़ा। स्थानाभाव के कारण उनका ज़िक्र करना यहाँ सम्भव नहीं है। किन्तु फल उगानेवाले ग़रीब कृषक यदि इन परिन्दे शुभचिन्तकों की सेवाओं से वंचित कर दिये जायँ तो उन पर क्या बीतेगी, इसका दृष्टांत हमें फ्रेडरिक-दी-ग्रेट की घटना से मिलता है। उसकी चेरी (cherry) के कुछ फलों पर गौरैय्ये ने चोंच मार दिया था, बस आपे से बाहर होकर फ्रेडरिक ने फ़रमान निकाला कि जहाँ कहीं भी छोटी चिड़ियाँ मिलें, उन्हें मार डाला जाय। दो साल के भीतर चेरी के वृक्ष यद्यपि वे फलों से सर्वथा रहित थे, केटरपिलर (कोषकृमि) की बाढ़ से ढक गये। पक्षियों को यदि

नेस्तनाबूद कर दिया जाय तो निस्संदेह ठीक यही हाल हमारे अमरूद, आम तथा खट्टे रसवाले वृक्षों का होगा।

उपयोगी पक्षियों के विभिन्न समूह

ऊपर हमने उन पक्षियों का ज़िक्र किया जो कीड़े-मकोड़े खाते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य कई श्रेणी ऐसी पक्षियों की हैं जो नन्हें-नन्हें घास के बीज या दंशक (rodent) को खाते हैं या वे शिकार के काम आते हैं अथवा गन्दगी और गलीज़ को साफ़ करते हैं। हम इनमें से प्रत्येक श्रेणी के पक्षी का तथा उनकी जीवनचर्य्या का अध्ययन करेंगे।

१. कीड़े - मकोड़े खाने वाले पक्षी—मिट्टी में रहनेवाले श्वेत कृमियों से लेकर जो पौधों की जड़ें काटते रहते हैं, वृक्ष के शिखर पर पाये जानेवाले पतिंगों तक सहस्रों प्रकार के शत्रुवत् कीड़े-मकोड़े इस भूमण्डल पर पाये जाते हैं जो निरन्तर फ़सल, वृक्ष और बाग़-बग़ीचों को नष्ट करने का प्रयत्न करते रहते हैं। हर श्रेणी के कीड़े के लिए प्रकृति ने विशेष जाति के पक्षी बनाये हैं जो उनकी विनष्टकारी बाढ़ को रोकते हैं। दीर्घ-चंचु कठफोड़े फुल-फुली मिट्टी में इन कीड़े-मकोड़ों की तलाश किया करते हैं, लवा तथा गौरैय्या सूखी पत्तियों और घास को कुरेदा करते हैं, रेन (wren) और वार्बलर (warbler) झाड़-झंखाड़ की नित्य तलाशी लिया करते हैं; कठफोड़े की जाति का एक दूसरा पक्षी नटहैचर (nut-hatcher) वृक्षों की छालों की जाँच करता रहता है, कठफोड़े वृक्ष की छालों में सूराख़ करने का प्रयत्न करते हैं और अबाबील और मक्खी-भक्षी पक्षी स्वयं वायु को कीड़े-मकोड़ों से शुद्ध रखते हैं। कीड़े-मकोड़े-भक्षी पक्षियों की संख्या

कीड़े-मकोड़े-भक्षी चिड़ियों का समूह

कीड़े-मकोड़ों के ख़िलाफ़ निरन्तर चलनेवाले जद्दोजहद में मनुष्य के सबसे बड़े सहायक इस श्रेणी के पक्षी हैं।

जहाँ अधिक होती है वहाँ बिरले ही भाग्यशाली कीड़े की जान बच पाती है, किन्तु जहाँ चिड़ियों की कमी है वहाँ बिरले ही पौधों के भाग्य इतने प्रबल होते हैं कि वे अपनी जीवनलीला निर्विघ्न समाप्त कर सकें। कनाडा और अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र ने बहुत दिनों पहले ही कीड़े-भक्षी पक्षियों को प्रोत्साहन देने की ज़रूरत महसूस कर ली थी, अतः उनकी पूर्ण रक्षा के लिए राज्य की ओर से कड़े क़ानून बन गये हैं। हमारे देश में शिकार की तथा अन्य चिड़ियों के मारने का केवल उनके सहवासकाल में ही निषेध है।

२. घासपात के बीज खानेवाले पक्षी—इस द्वितीय श्रेणी में वे पक्षी आते हैं जिन्हें अपनी ख़ूराक का समूचा या आंशिक भाग घासपात के बीजों से प्राप्त होता है। विभिन्न जाति के गौरैय्ये, बटेर, और साधारणतः शिकार के सभी पक्षी इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। कदाचित् शिकार के तमाम पक्षियों में बटेर घासपात को नष्ट करने में अग्रगण्य है। न्यूयार्क की रियासत में हर जाड़े की ऋतु में घास के बीज जो वृक्षोंवाले गौरैय्ये खा डालते हैं उसका मित तख़मीना ६०० टन से भी अधिक लगाया गया है। जब किसी कारण से बीज-भक्षी पक्षियों की एक बड़ी संख्या किसी छोटे प्रदेश पर अपनी खाद्य सामग्री के लिए आकर जुट जाती है, तो अवश्य वहाँ की कृषि पर अत्यन्त लाभदायक प्रभाव पड़ता है। किन्तु समूचे देश के खेतों को घासपात से मुक्त करने के लिए मौजूदा संख्या के पाँच गुने पक्षियों की आवश्यकता होगी।

३. वे पक्षी जो नन्हें दंशकों (rodents) का भक्षण करते हैं—चूहे, गिलहरी आदि दंशकों की विनष्टकारी प्रवृत्तियाँ संसार के विभिन्न देशों में सब कहीं लगभग एक-सी ही हैं। खेत की खड़ी फ़सल, या खलिहान के अनाज, आलू, शकरक़न्द की जाति के मूलक पौधों को जब कि वे उग रहे हों या ज़मीन पर इकट्ठे किये गये हों, फल के बग़ीचे और जंगल के वृक्ष, ज़मीन के अन्दर उपजनेवाले फल तथा फूल और तरकारी के बग़ीचों, सभी को ये अपरिमित क्षति पहुँचाते हैं। कुछ दंशक तो बीमारियों के फैलाने के प्रधान साधन हैं। ये नन्हीं जाति के दंशक साल में पाँच-सात बार बच्चे देते हैं, और हर बार ५ से लेकर १० बच्चे पैदा होते हैं। यदि तमाम बच्चे ज़िन्दा रहें, तो इस रफ़्तार से ३ वर्ष में अकेले एक जोड़े चूहे से ३० लाख से भी अधिक सन्तानें उत्पन्न हो जायँगी। इनकी संख्या को कम रखने का मानों उत्तरदायित्व कुछ पक्षियों को सिपुर्द है। इस क्षेत्र में बाज़ और उल्लू हमारे प्रमुख सहायक हैं। इन दोनों जाति के पक्षियों के बच्चों का घोंसले के अन्दर काफ़ी दिनों तक पालन-पोषण करना होता है, और इस दर्मियान उनके लिए प्रचुर मात्रा में खाद्य सामग्री जुटानी होती है। १८६० की ग्रीष्म ऋतु में एक खंडहर में अकेले एक जोड़े उल्लू ने चूहों की ४५४ खोपड़ियाँ अपने घोंसले में रख छोड़ी थीं। उल्लू की कुछ जातियाँ समय-समय पर झुण्ड में उड़कर ऐसे स्थानों पर जाती हैं जहाँ चुहियों की संख्या विशेष रूप से बढ़ गयी होती है, और ये वहाँ पर उस वक़्त तक अपने शिकार का काम जारी रखते हैं जब तक कि चुहियों की संख्या पुनः औसत पर नहीं पहुँच आती। बड़े साइज़ का सींघदार उल्लू तथा दो या तीन जाति के बाज़ नियमित रूप से छोटी चिड़ियों और मुर्ग़ी तथा कबूतर के बच्चों का शिकार करते हैं—इस लिहाज़ से ये हमें हानि भी पहुँचाते हैं। अतः इस श्रेणी के पक्षियों को नष्ट करने के पहले उनकी आदतों के बारे में हमें पूरी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये—क्योंकि दो-चार मुर्ग़ियों तथा कबूतरों का नष्ट होना उतना बुरा नहीं है जितना खेत में चूहों और गिलहरियों की अपरिमित बाढ़ का नियमित रूप से पैदा होते रहना। हेय की दृष्टि से देखा जानेवाला उल्लू भी उपयोगिता से ख़ाली नहीं है।
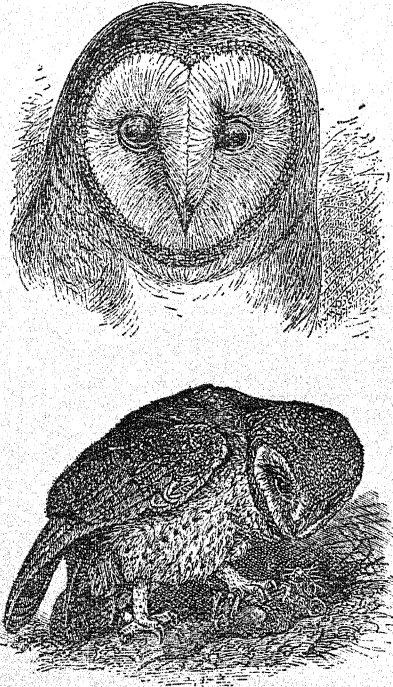
चुहियों के भक्षक उल्लू

४—पक्षियाँ जो शिकार के काम आते हैं—हमारे देश म लोग विभिन्न जाति की बत्तख़ों का जो जाड़े के दिनों में

यहाँ उतरती हैं, बन्दूक़ से शिकार कर उन्हें खाते हैं। किन्तु यहाँ शिकार के कुछ पक्षी बारहो महीने पाये जाते हैं—उदाहरणार्थ, जंगली कबूतर (fowl), कठफोड़े, लवा तथा पोरट्रिज (partridges)। यद्यपि पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत में मांसाहारियों की संख्या कम है, किन्तु फिर भी प्रति वर्ष शिकार के पक्षियों की संख्या घटती जा रही है। अमेरिका में, जहाँ अकेले न्यूयार्क रियासत में प्रति वर्ष शिकारी बन्दूक़ों के ५ लाख लाइसेन्स पास किये जाते हैं, राज्य के अधिकारियों तथा जीवविज्ञानियों, दोनों ही के सामने भारी समस्या है कि शिकार के पक्षियों की संख्या को घटने से कैसे बचायें। संसार के अन्य कई भागों में शिकार के पक्षियों की भारी कमी अभी पैदा हो गयी है। शिकारियों, पेशेवर बहेलियों, तथा फर और पंख के फ़ौजी एजेन्टों ने लाखों की संख्या में इन पक्षियों की जानें ली हैं, फलस्वरूप प्राक्-सभ्यता के वे दिन अब बाक़ी न रहे जब कि प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का इतमीनान रहता था कि उसे अपने बन्दूक़ के बल पर खाने के लिए शिकार के पक्षियों की कभी कमी नहीं हो सकती।

इस प्रकार गत ५० वर्षों के बीच जंगली पक्षियों का महत्त्व खाद्य-द्रव्य की दृष्टि से क्रमशः गिरता ही गया है। कहा जाता है कि ५० वर्ष पहले उत्तर अमेरिका में जंगली बत्तख़ों की संख्या अगणित थी, किन्तु अब हडसन खाड़ी के तट पर इनकी संख्या इतनी कम हो गयी है कि वहाँ के निवासियों को जाड़े में मुश्किल से खाने भर को बत्तख़ें मिल पाती हैं।

५—वे पक्षी जो भंगी-मेहतर का काम करते हैं—पाँचवीं श्रेणी उन पक्षियों की है जो हमारे आसपास के कूड़ा-कर्कट और ग़लीज़ को साफ़ करते रहते हैं। इस सिलसिले में गिद्ध तथा चील्ह की कुछ जातियाँ विशेष उपयोगी हैं। राजगिद्ध को सभी जानते हैं—बड़े गिद्ध तो जानवरों के मृत-शरीर को भी चट कर जाते हैं। मरे हुए साँप भी इनकी दृष्टि से बचने नहीं पाते। कहा जाता है कि अपनी तीव्र घ्राण-शक्ति की सहायता से ये दृष्टि से परे मृत-शरीर का भी दूर से ही पता लगा लेते हैं। बगुले की जाति के पक्षी (Gulls) और जंगली कौए भी मृत-शरीर की सड़न से वायु को मुक्त रखते हैं। मरी हुई मछलियों को जो पानी में उतराती रहती हैं, बगुले खा जाते हैं, इस प्रकार समुद्र-तट, नदी और तालाब को ये गन्दगी से बचाते हैं।

ग्रीफन गिद्ध

दक्षिण युरूप में यह पक्षी बहुतायत से पाया जाता है। इसकी खाने की क्षमता अद्भुत है। कई दिनों तक यह भूखा रह सकता है, या फिर जब सामने सड़ा-गला मुर्दा दीखा तो यह बेहद ठूँस ठूँसकर खा सकता है। इस प्रकार आकस्मिक महामारी आदि में भी यह मेहतर का काम पूरी तौर पर अंजाम देता है।

६—वे पक्षी जो संदेशवाहक का काम करते हैं—उपर्युक्त कामों से सर्वथा भिन्न उपयोग—संदेशवाहक का काम भी कुछ पक्षियों से लिया जाता है। विशेषतया युद्धकाल में तो इस उपयोगिता को बहुत बड़ा महत्त्व मिला है। रेडियो और तार के इस युग में भी कबूतरों को एक स्थान से दूसरे स्थान को संदेश ले जाने की शिक्षा दी जाती है। ये 'संदेशवाहक कबूतर' (carrier pigeons) के नाम से पुकारे जाते हैं। शत्रु-सेना से घिरे हुए नगर या फ़ौजी दस्तों से या उन तक महत्त्वपूर्ण संदेश या आशा के समाचार ऐसी हालत में इन परिन्दे सेवकों ने पहुँचाए हैं जब कि अन्य किसी वसीले से ख़बरें आ-जा नहीं सकती थीं। और इस तरह लम्बे फ़ासले को पार कर बिना किसी प्रकार की भूल किये हुए अपने विशेष दिशा-ज्ञान (जिसे हम छठी इन्द्रिय कह सकते हैं और जिससे

हम मानव-गण वञ्चित रखे गये हैं) की मदद से अपने शरीर से बँधे हुए समाचार को ठीक पते पर पहुँचा कर इन्होंने महत्त्वपूर्ण सेवाएँ की हैं।

वानर-भक्षी गृद्ध
यह छोटी जाति के बन्दरों को खाकर अपना उदर पोषण करता है।

आइए अब हम पक्षियों के जीवन के अन्य पहलुओं पर दृष्टि डालें। आठवें अंक में हमने उनकी आश्चर्यजनक लम्बी यात्राओं का विवरण पढ़ा है, तथा चौदहवें अंक में हमने यह भी देखा कि घोंसला बनाने में स्थापत्यकला सम्बन्धी निपुणता का भी प्रचुर मात्रा में ये प्रदर्शन करते हैं।

पक्षी के घोंसले से अधिक मनमोहक अन्य कोई शिशु-गृह नहीं मिल सकता। आपने पक्षियों के घोंसले अवश्य देखे होंगे, साथ ही आपने उनमें अन्दर के स्थिर या झूलनेवाले पालने को, जिसमें वे अपने बहुमूल्य अण्डे रखते हैं, देखकर आश्चर्य भी किया होगा। ये घोंसले साफ़-सुथरे और सुन्दर होते हैं। अनेक घोंसले उन चीज़ों से तैयार किये जाते हैं जो पास-पड़ोस में लभ्य होते हैं। कभी-कभी इसका विचित्र नतीजा निकलता है। सम्भवतः आपने उस चिड़िये के बारे में सुना होगा जिसने एक गिर्जेघर के समीप जिसमें थोड़े ही दिन हुए एक नव-दम्पति का विवाह हुआ था, अपने घोंसले का निर्माण किया था। नज़दीक ज़मीन पर पड़े हुए काग़ज़ के अनेक रंग-विरंगे टुकड़ों को उठाकर उन्हीं से उसने अपना घोंसला बना लिया। वह बेचारी कभी समझ न सकी, कि उस साल लोगों ने जब उसके घोंसले को देखा तो क्यों वे देर तक उसे घूरते रहे थे।

पक्षियों के घोंसले इस बात को साबित करते हैं कि जानवरों की भाँति पक्षी भी अपनी सन्तान की हद दर्जे की परवा और रक्षा करते हैं। बिना किसी हथियार के, बिना हाथों की मदद के, केवल चोंच की सहायता से, पालनानुमा या झूलनेवाले बया का घोंसला ये तैयार कर लेते हैं। किन्तु सभी पक्षी अपने शिशुगृहों के निर्माण में समान मात्रा में परिश्रम नहीं करते और न एक-सी परवा ही दिखलाते हैं। समुद्र के पक्षी जो दुर्गम और निर्जन चट्टानों पर अण्डे देते हैं, घोंसले के निर्माण में अपनी शक्ति व्यर्थ नहीं खोते, और न एक साथ ये ढेर-से अण्डे ही देते हैं। पेन्गुइन, पफिन (puffin), ऑक (auk), पेट्रेल (petrel) तथा समुद्र-तट की चट्टानों पर रहनेवाले अन्य पक्षी एक बार में एक ही अण्डे देते हैं और उसे भी वे खुले हुए स्थान पर छोड़ देते हैं। ऐसा करना ठीक भी है क्योंकि शायद ही कभी इनके बच्चों को कोई हानि पहुँचती है। साथ के चित्र में दिखलाये गये जलपक्षी ग्रेब (grebe) का घोंसला सूखे हुए नरकुल का बना हुआ एक छोटा-सा बेड़ा होता है जो पानी पर तैरा करता है। इस बेड़े का मध्य भाग गहरा बना होता है, जिसमें अण्डे रखे जा सकते हैं।
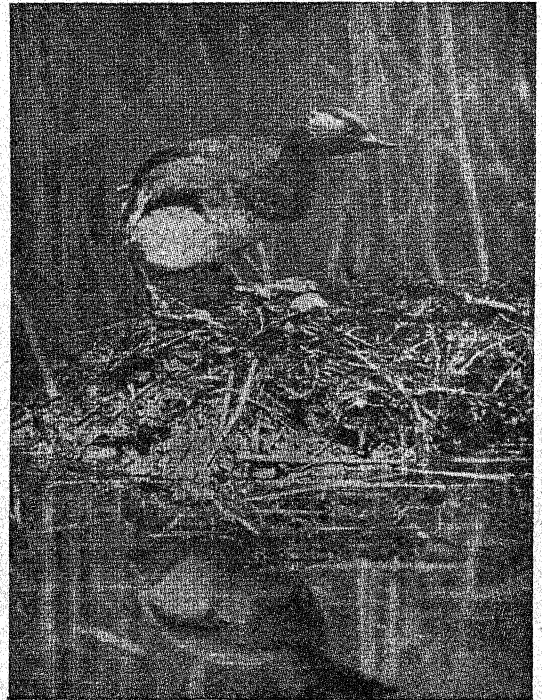
ग्रेब का तैरता हुआ घोंसला
ग्रेब का घोंसला नरकुलों का बना हुआ बेड़ा होता है।

मनुष्य
की कहानी

स्वर-यंत्र (लेरिंक्स)

फफ्फुस के भीतर
वायु नलिकाएँ

टेंटुआ (ट्रेकिया)

फुफ्फुस की
ऊपरी सतह
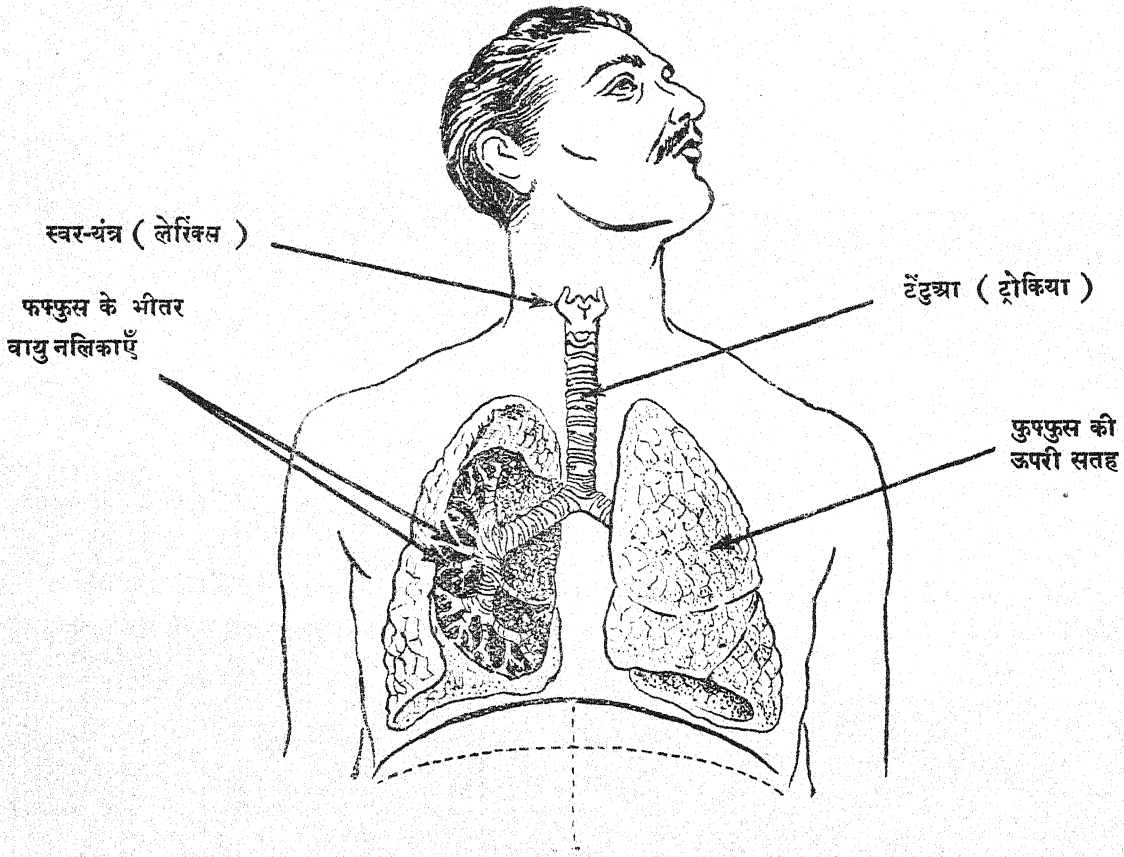
महाप्राचीर परदा (डायफ्राम)

श्वासयंत्र के मुख्य अंग
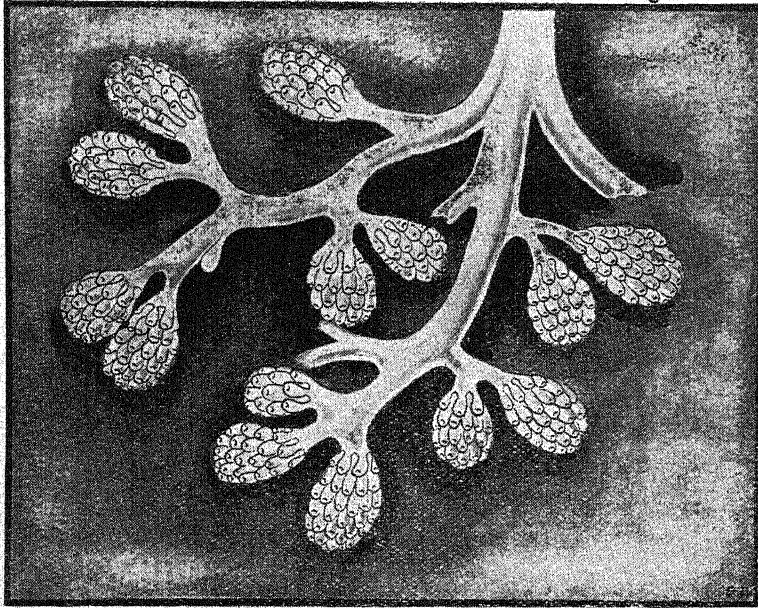
फेफड़े में वायुकोषों के गुच्छे

इनकी पतली दीवालों में से होकर रक्त की दूषित गैस कार्बन-डाइऑक्साइड भीतर चली आती है, तथा ऑक्सी-जन इन पतली दीवालों को भेदकर बाहर के रक्त से जा मिलता है।

हम श्वास क्यों और कैसे लेते हैं ?

यह तो आप जानते ही होंगे कि साँस फेफड़ों से ली जाती है। शायद इसका भी अनुभव आपको हो कि श्वास के भीतर जाने या बाहर आने में रुकावट आते ही प्राण संकट में पड़ जाते हैं। यदि कोई एक-दो मिनट भी टेंटुआ दबाये रहे तो दम घुटने लगता है। हमारी शरीररूपी अत्युत्तम मशीन वायु के अभाव में दो-चार मिनट से अधिक नहीं चल सकती। यही कारण है कि डूबने, गला घोंटने, दम घुटने और फाँसी पर लटका देने से मनुष्य कुछ मिनटों में ही प्राण-विसर्जन कर देता है। इससे यह स्पष्ट है कि शरीररूपी यंत्र में इस कार्य श्वास निकालने और लेने का कितना विशाल महत्त्व है ! उसे नियमित रूप से चलाने और ख़तरे से बचाये रखने की आवश्यकता के मूल्य को ठीक-ठीक आँकने के लिए यह आवश्यक है कि आप यह समझ लें कि जीवन क्रिया को चालू रखने में उसका क्या स्थान है।

श्वास की आवश्यकता

पहले लेखों में हम बतला चुके हैं कि शरीर के तन्तुओं और कोषों को अपना काम करने, थकान मिटाने, टूट-फूट की पूर्त्ति करने और बढ़ने के लिए बल और शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति उन्हें नाना प्रकार के भोजनों के पचने से रक्त के रूप में प्राप्त होती है। तन्तुओं और कोषों के लिए भोजन से भी आवश्यक वस्तु ओषजन गैस (ऑक्सीजन) है। यह ओषजन उन्हें श्वास द्वारा भीतर गई हुई हवा से ही प्राप्त होता है। जिस तरह आँतों में पची हुई भोजन-सामग्री को रक्त अपने में जज़्ब कर शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचा देता है, उसी प्रकार फेफड़ों की महीन-महीन झिल्लियों में प्रवाहित रक्त श्वास द्वारा भीतर जानेवाली स्वच्छ हवा से ओषजन लेकर समस्त शरीर में पहुँचा देता है।

इतना ही नहीं, शरीर में जितनी भी गतियाँ होती हैं, उनके कारण बहुत-से ऐसे पदार्थ बनते हैं जो हानिकारक होते हैं; जिनका शरीर के बाहर निकल जाना ही अच्छा है। इसके लिए कई प्रबन्ध हैं। कुछ विकार पसीने, कुछ मल, कुछ मूत्र और कुछ श्वास द्वारा बाहर निकलते हैं। कोषों के टूटने-फूटने से और तन्तुओं में होनेवाली रासायनिक क्रियाओं से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड नाम का दूषित पदार्थ अधिक बनता है। इसे बाहर निकालने का प्रबन्ध भी रक्त और श्वास द्वारा होता है। केशिकाओं की महीन दीवालों से छन-छनकर जो रक्त भिन्न-भिन्न कोषों में पहुँचता है, उससे उन्हें फेफड़ों में सोखा हुआ ओषजन मिल जाता है और दूषित कार्बन-डाइ-ऑक्साइड जो उनमें बनती है, इस ओषजनविहीन रक्त में मिल जाता है। जब यह ख़ून शरीर में चक्कर लगाता हुआ फिर फेफड़े में पहुँचता है तो अपने साथ लायी हुई हानिकारक गैस फेफड़े की झिल्ली द्वारा बाहर निकाल देता है और उसकी जगह शुद्ध करनेवाला ओषजन अपने में खींच लेता है। इसलिए श्वास द्वारा फेफड़ों में ये दोनों क्रियाएँ होती रहती हैं और इन दोनों ही को श्वासोच्छ्वासन क्रिया का नाम दिया गया है।

रात-दिन, जन्म से मृत्यु-पर्यन्त हम श्वास-क्रिया निरन्तर जारी रखते हैं। श्वास की क्रिया के लिए ज़रूरी सामग्री हवा है। इसीलिए हवा श्वास द्वारा फेफड़ों में आती-जाती रहती है कि **हमको ज़रूरी ओषजन बराबर मिलता रहे और बेकार कार्बन-डाइ-ऑक्साइड शरीर के बाहर निकलती रहे।**

जीवित कोषों की सब ज़रूरतें एक-सी ही नहीं हैं ; उन्हें भोजन तो अवश्य ही मिलना चाहिये किन्तु यह ज़रूरी नहीं कि वह उन्हें लगातार मिला ही करे। वह तो अपने में थोड़ी-बहुत सामग्री शक्कर, वसा या प्रत्यामिन के रूप में एकत्रित कर सकते हैं और अवसर पड़ने पर इन छोटे-मोटे शक्ति के भण्डारों से कुछ समय तक अपना काम चलाते हैं। यही कारण है कि मनुष्य बिना खाये भी

कई दिनों तक जीवित रह सकता है। यह भी कोई आवश्यक बात नहीं कि शरीर में बनी हुई बेकार वस्तुयें फ़ुर्ती से उसके बाहर निकल जायँ। वे धीरे-धीरे और थोड़ी मात्रा ही में बना करती हैं। यदि शरीर में ये थोड़ी देर रुकी भी रहें तो हमें विशेष हानि नहीं होती; जैसे—मल-मूत्र। किन्तु ओषजन की आवश्यकता ऐसी नहीं है जो क्षण भर भी टाली जा सके। वह तो कोषों को निरन्तर ही प्राप्त होना चाहिये क्योंकि उनके पास इस गैस को बटोर रखने का कोई साधन नहीं है। तीन मिनट भी ओषजन न मिले तो वे सदा के लिए बेकार हो जाते हैं। इसीलिए **श्वास का सदा चलते रहना ही जीवन का चिह्न है। श्वास रुकी तो प्राण गये।**

श्वास यंत्र के अवयव

यह तो आप जानते ही होंगे कि श्वास लेने के प्रधान अंग दो फेफड़े हैं जो सीने के अन्दर का अधिक हिस्सा घेरे हुए हैं और पसलियों के भीतर भली भाँति सुरक्षित हैं। जिन मार्गों से होकर बाहरी हवा फेफड़ों तक आती जाती है वे सब **श्वास-मार्गों** में गिने जाते हैं और उन सब अवयवों तथा फेफड़ों को मिलाकर उन्हें **श्वासोच्छ्वास संस्थान** कहा जाता है। इसके मुख्य भाग हैं, नासिका, कंठ, टेंटुआ, वायु-प्रणालियाँ और फेफड़े।

फेफड़ों की रक्षक—नाक

नाक के छिद्रों या नथुनों में होकर हवा श्वास-मार्ग में प्रवेश करती है। स्मरण रहना चाहिये कि श्वास को अन्दर खींचने का अवयव नाक है मुँह नहीं। आगे के नाज़ुक रास्ते में जाने से पहले नाक के भीतर वायु गर्म होती है, उसमें तरी आ जाती है और उससे धूलि-कण तथा रोगाणु छन जाते हैं। अगर श्वास-मार्ग सीधा और खुला होता तो हवा धूल और कीटाणुओं सहित सीधी फेफड़े में जा पहुँचती। किन्तु ऐसा नहीं है। नाक के भीतर एक बड़ी अनोखी घूमघुमैया बनी हुई है। हवा को इसी घूम-घुमैया के संकीर्ण मार्ग से गुज़रना पड़ता है। इस घूम-घुमैया की दीवालें महीन काग़ज़ी हड्डियों की बनी होती हैं। इनके ऊपर जो खाल मढ़ी होती है उस पर झाड़ू की सींकों के समान अनेकों छोटे-छोटे बाल उगे रहते हैं और यह खाल सदा तर रहती है। इसी वजह से नथुनों में उँगली डालने से वह सदा भीगी निकलती है। जिस तरह मक्खी मारनेवाले काग़ज़ पर मक्खियाँ चिपक जाती हैं उसी तरह धूल के कण और रोगों के कीटाणु टेढ़ी-मेढ़ी राहों में निकलते हुए नाक की भीगी श्लैष्मिक कला और बालों में चिपक जाते हैं और धीरे-धीरे नाक के बहने पर या बालों के हिलने से बाहर आ जाते हैं। नाक के पेचीदा पर्दों के पीछे गर्म ख़ून प्रवाहित होता रहता है जिसके स्पर्श से हवा भी गर्म होती है।

मुँह से श्वास लेने पर हवा परिष्कृत नहीं हो पाती। इसलिए मुँह से श्वास लेना ठीक नहीं। जिन लोगों को इसकी आदत पड़ जाती है वे निचले श्वास-मार्ग के शीत रोगों से प्रायः पीड़ित रहा करते हैं किन्तु नाक से श्वास लेने में यदि ३२° फ़ा० की ठंडी हवा भी अन्दर चली जाय तो भी उसे इस बात का डर नहीं रहेगा कि वह हवा उसके भीतर फेफड़ों में टंडक पहुँचायेगी क्योंकि वह फेफड़ों में पहुँचते-पहुँचते उतनी ठंडी नहीं रह जाती। जितनी ही अधिक ठंडी हवा में श्वास लेते हैं उतनी ही तेज़ी से गर्म करनेवाला रक्त नाक के पर्दों में दौड़ता है। जाँच से पता चलता है कि पानी जमा देनेवाली (३२° फ़ा०) ठंडी हवा भी फेफड़ों में पहुँचने से पहले हलकी गर्मी के ऋतु की हवा के बराबर गर्म (८१° फ़ा०) हो जाती है।

मुखकंठ या हलक़

नाक के बाद हवा का मार्ग एकदम नीचे की ओर मुड़कर नर्म तालू में कौये के पीछे हलक़ से जा मिलता है। इस चौड़े मार्ग में मुँह का मार्ग भी मिलता है। इसके बग़ल की दीवालों में कान के पिछले सूराख़ खुलते हैं और इसी के पेंदे में से दो रास्ते गले के भीतर जाते हैं। चित्र के देखने से आपको पता चल जायगा कि किस प्रकार गला इन दो मार्गों में बँटा हुआ है। सामने की ओर वायु-प्रणाली है जिसमें होकर हवा भीतर जाती है तथा पीछे की ओर अन्न-प्रणाली है जिसमें होकर भोजन मुख से आमाशय में पहुँचता है। वायु-प्रणाली के द्वार पर एक ढकना या फाटक लगा हुआ है जो स्वरयंत्रच्छद कहलाता है। जब भोजन अन्न-प्रणाली में जाने को होता है तो यह ढकना बन्द हो जाता है किन्तु और समय वायु-प्रणाली में हवा जाने के लिए यह खुला रहता है। शरीर के मुख्य फाटकों में से एक यह भी है। जब कभी यह अपने कर्त्तव्य से चूक जाता है तब पता चलता है कि उसकी विशेषता क्या है। ग्रास निगलने या घूँट भरने पर एकाएक जब बोलने या हँसने की इच्छा होती है तो मस्तिष्क से इस फाटक को दो हुक्म मिलते हैं—एक बन्द रहने के लिए जिससे ग्रास या घूँट गले के नीचे उतर जाय और दूसरा खुला रहने के लिए जिससे हँसी या बोली बाहर आ सके। वह बेचारा दुबिधे में पड़ जाता है कि

क्या करें ! इतने ही में खाने या पानी का एक अंश वायु-प्रणाली के ऊपरी हिस्से में जा पहुँचता है और हमको ठसा लग जाता है।

स्वर-यंत्र

गले से हवा स्वर-यंत्र में आती है । स्वर-यंत्र हवा की नली का ऊपरी भाग है जो अन्न-प्रणाली के ठीक सामने स्वरयंत्रच्छद के नीचे स्थित रहता है। इसी की सहायता से हम बोलते-चालते हैं। यह चबनी (उपस्थि) का बना हुआ छोटा-सा बक्स है जो गर्दन में सामने ऊपर से बीच में टटोलने से कड़ा मालूम होता है। जब हम कुछ निगलते हैं तो यह ऊपर को उठता और फिर नीचे को गिरता दिखलाई देता है। स्वर-यंत्र की भीतरी तह से पीछे को जाते हुए श्लैष्मिक झिल्ली के दो परत होते हैं जो स्वररज्जु कहलाते हैं। दोनों रज्जु स्वर-यंत्र के पीछे लगे रहते हैं और उनके बीच में एक पतली-सी दरार होती है। रज्जु शब्द उत्पन्न करते हैं। उनमें छोटी-छोटी मांस-पेशियाँ होती हैं जिनसे वे इच्छानुसार ढीले और कड़े किये जा सकते हैं और उनके बीच की दरार घटाई या बढ़ाई जा सकती है। जब सीने से हवा बीच की दरार से होकर बाहर निकलती है तो इन रज्जुओं के पतले किनारे बिना रोक-टोक के हिलने लगते हैं। तेज़ आवाज़ निकालने में वे तनकर एक दूसरे के पास आ जाते हैं और तेज़ी से कम्पित होने लगते हैं। जब हम धीरे से बोलते हैं वे ढीले होकर दूर हो जाते हैं और धीरे-धीरे कम्पन करते हैं। स्वाभाविक रूप से धीमी साँस लेने पर उनकी दशा बीच की रहती है अर्थात् न तो वे बहुत तने ही रहते हैं और न बिल्कुल ढीले ही। इस अवस्था में उन पर हवा के आने-जाने का कोई असर नहीं होता। स्वर-यंत्र का श्वासोच्छ्वासन-क्रिया से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसे तो प्रकृति ने हवा के मार्ग में रोने, बोलने, गाने का एक साधन बना दिया है।

टेंटुआ और वायु-प्रणालियाँ

स्वर-यंत्र से नीचे को लगी हुई नली, जो गर्दन में सामने टटोलने से मालूम पड़ती है टेंटुआ नामक हवा की नली है। हवा स्वर-यंत्र से इसी में आती है। यह नली लगभग ४½ इंच लम्बी और १ इंच से कुछ कम मोटी होती है। यह नली बिल्कुल गोल नहीं होती। इसके सामने का भाग तो ज़रूर गोल होता है परन्तु पीछे का हिस्सा जो भोजन की नली से सटा रहता है, चपटा होता है। टेंटुये की दीवाल में चबनी के १६–२० तक लचीले छल्ले होते हैं जो पीछे की ओर आपस में जुड़ते नहीं हैं । ये टेंटुये की दीवालों को पिचक जाने से रोकते हैं। टेंटुआ सीने की हड्डी के पीछे पहुँचकर दो नलियों में बँट जाता है। दाहिनी नली दाहिने फेफड़े में और बायीं बायें में प्रवेश करती है। फेफड़े में घुसते ही प्रत्येक नली कई शाखाओं में बँट जाती है और प्रत्येक शाखा से और भी छोटी-छोटी अनगिनत महीन शाखायें फूटती हैं। अन्त में हरएक छोटी शाखा फूलकर नन्हे-नन्हे महीन झिल्लीवाले अंगूर के-से गुच्छों का रूप धारण कर लेती है। इन शाखाओं को ही श्वास-प्रणालिकायें और इन गुच्छों को
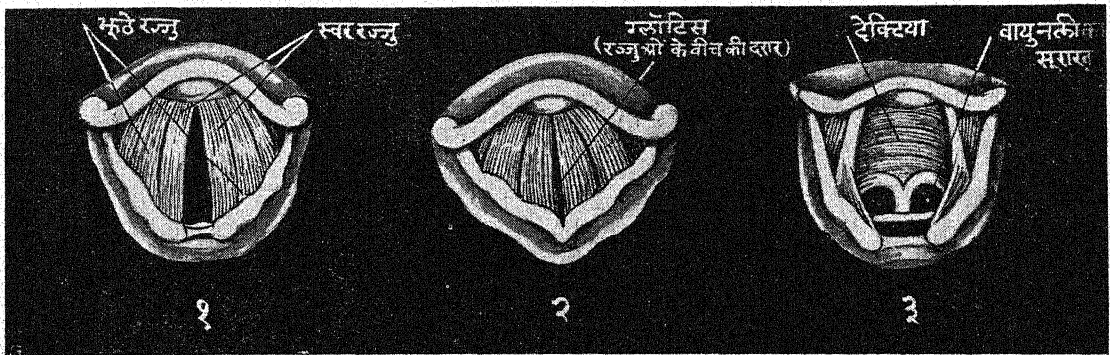
स्वर-यंत्र

स्वररज्जु जब ढीले रहते हैं तो हवा इनके बीच से होकर आसानी से गुज़रती है (१) आवाज़ नहीं उत्पन्न होती। तीव्रस्वर निकालने के लिए स्वररज्जुओं को तानना पड़ता है; जिस समय हवा इनके बीच से होकर गुज़रती है इन रज्जुओं में तेज़ कम्पन होने लगता है (२) और तीव्रस्वर के कम्पन उत्पन्न होते हैं। नं० ३ में गहरी साँस लेते समय इन रज्जुओं की दशा दिखलाई गयी है।

फेफड़े के **वायु-कोष** या **वायु की थैलियाँ** कहते हैं।

टेंटुये और समस्त श्वास-प्रणालिकाओं में भीतर की ओर श्लैष्मिक कला की एक तह होती है जिसके ऊपर इतने छोटे-छोटे बाल हैं जो बिना शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के देखे नहीं जा सकते। श्वास की राह को साफ़ रखने के निमित्त ये ही प्राकृतिक साधन हैं। हवा के साथ जो धूल या अन्य बाहरी चीज़ों के कण इन बालों तक पहुँच जाते हैं उन्हें ये ही अपनी लहरानेवाली गति द्वारा बाहर निकाल देते हैं। ये रोएँ यदि गीले न रहें तो अपना काम नहीं कर सकते। इसलिए सम्पूर्ण श्वास-मार्ग की श्लैष्मिक कला में छोटी छोटी गुत्थियों के छिद्र मिलते हैं। इन नन्हे यन्त्रों से एक स्वच्छ चिपचिपा पदार्थ—श्लैष्म—सदा निकलता रहता है जो बालों पर बहकर उन्हें केवल भीगा ही नहीं रखता बल्कि उनमें अटकी हुई धूल-गर्द को बहाकर बाहर भी कर देता है।

फेफड़े

दोनों फेफड़े सीने के गड्ढे में दो थैलियों के समान लटके हुए हैं किन्तु इनकी दीवालें थैलियों की भाँति सादी नहीं होतीं। उनके भीतर ख़ाली जगह नहीं होती बल्कि सारे फेफड़े में उसी प्रकार नन्हे-नन्हे वायु-कोष भरे हुये हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसीलिए दबाने से ये स्पंज की तरह मुलायम मालूम होते हैं। हर फेफड़े पर एक पतली झिल्ली का आवरण चढ़ा रहता है। इसी प्रकार का आवरण सीने की भीतरी दीवाल पर भी चढ़ा रहता है। इन दोनों आवरणों को फुफ्फुसावरण कहते हैं। ये चिकने और चमकदार आवरण एक स्वच्छ लाख में भीगे रहते हैं जिससे श्वासोच्छ्वास क्रिया में उनमें रगड़ न लगे। फेफड़ों में हवा भरी रहने के कारण दोनों फुफ्फुसावरण एक दूसरे से सटे रहते हैं; किन्तु फुफ्फुसावरण प्रदाह (प्लूरिसी) का रोग हो जाने पर वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। जन्म से पहले फेफड़ों का रंग गहरा लाल और तुरन्त पैदा हुए बच्चे के फेफड़ों का रंग हलका लाल होता है किन्तु उसके बाद इनका रंग भूरा गुलाबी या कुछ नीलापन लिये हुए रहता है। उनके ऊपर गहरे धब्बे भी पड़े होते हैं। दोनों फेफड़ों का वज़न १ सेर या १। सेर होता है। स्वस्थ अवस्था में वे इतने हलके होते हैं कि वे पानी पर तैर सकते हैं किन्तु रोग-ग्रस्त हो जाने पर या अन्दर की हवा निकल जाने के कारण वे पानी में नीचे बैठ जाते हैं।

सारे फेफड़े में अत्यन्त महीन झिल्लीवाले असंख्य वायु-कोषों के गुच्छे भरे रहते हैं। प्रत्येक कोष १/१० इंच लम्बा और १/१० इंच चौड़ा होता है और कहा जाता है कि दोनों फेफड़ों में उनकी संख्या कुल ६०-७० लाख होती है। श्वास लेने पर ये छोटी कोठरियाँ हवा से भर जाती हैं और श्वास निकालने पर सिकुड़ जाती हैं। इनकी दीवालें अत्यन्त महीन ही नहीं वरन् लचीली भी होती हैं और ये कोषों से बनती हैं। वायु-कोषों के बीच-बीच में बाहरी ओर ख़ून की महीन-महीन अनगिनत केशिकाओं का जाल फैला रहता है और कहीं-कहीं पर स्नायु-सूत्र भी रहते हैं। इन केशिकाओं की दीवालें भी बहुत ही महीन होती हैं। उनमें प्रवाहित होनेवाले रक्त और वायु-कोष में भरी हुई हवा के बीच केवल उनकी अत्यन्त सूक्ष्म दीवालें ही हैं। ये इतनी पतली होती हैं कि बड़ी आसानी से वायु-कोष की वायु से ओषजन उनमें से होकर केशिकाओं के रक्त में जा मिलता है और बेकार कार्बन-डाइ-ऑक्साइड उसके बदले में रक्त से निकलकर वायु-कोष की हवा में आ मिलती है। इस प्रकार फेफड़ों में बाहर से आया हुआ ओषजन रक्त में पहुँच जाता है, जिससे वह शुद्ध और लाल होकर फेफड़ों की शिराओं से बहता हुआ हृदय में पहुँच जाता है और वहाँ से सम्पूर्ण शरीर में बँट जाता है। उधर ख़ून से निकलकर हवा में पहुँचा हुआ कार्बन-डाइ-ऑक्साइड साँस के साथ बाहर फेंक दिया जाता है। इस प्रकार फेफड़ों में रक्त गैसों की बदला-बदली करता है और यही श्वासोच्छ्वास-क्रिया का मुख्य उद्देश्य है।

फेफड़ों में १ गैलन हवा और १½ गैलन ख़ून एक दूसरे से मिलते हैं

मोटे तौर से हमारे शरीर में लगभग १½ गैलन या ६ बोतल अथवा ५½ सेर रक्त होता है और हमारे फेफड़ों में १ गैलन के क़रीब हवा होती है। गहरी-से-गहरी साँस लेने पर भी हम इतनी ही हवा खींच पाते हैं। पसलियों और सीने के बीच की कम-से-कम जगह में इतने सारे रक्त और हवा को मिलाने की समस्या को प्रकृति ने किस प्रकार हल किया है वह हमारे शरीररूपी कल के सबसे बड़े अचम्भों में से एक है। सम्पूर्ण शरीर के रक्त-कणों के ओषजन सोखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उनके ऊपर से होकर ओषजन-युक्त वायु गुज़रे। अतः प्रत्येक कण हर मिनट में दो बार फेफड़े में पहुँचता है और मामूली तौर से साँस लेते हुए प्रति मिनट १५-१८ बार फेफड़ों में हवा जाती है। तेज़ साँस लेने में तो और भी जल्दी।
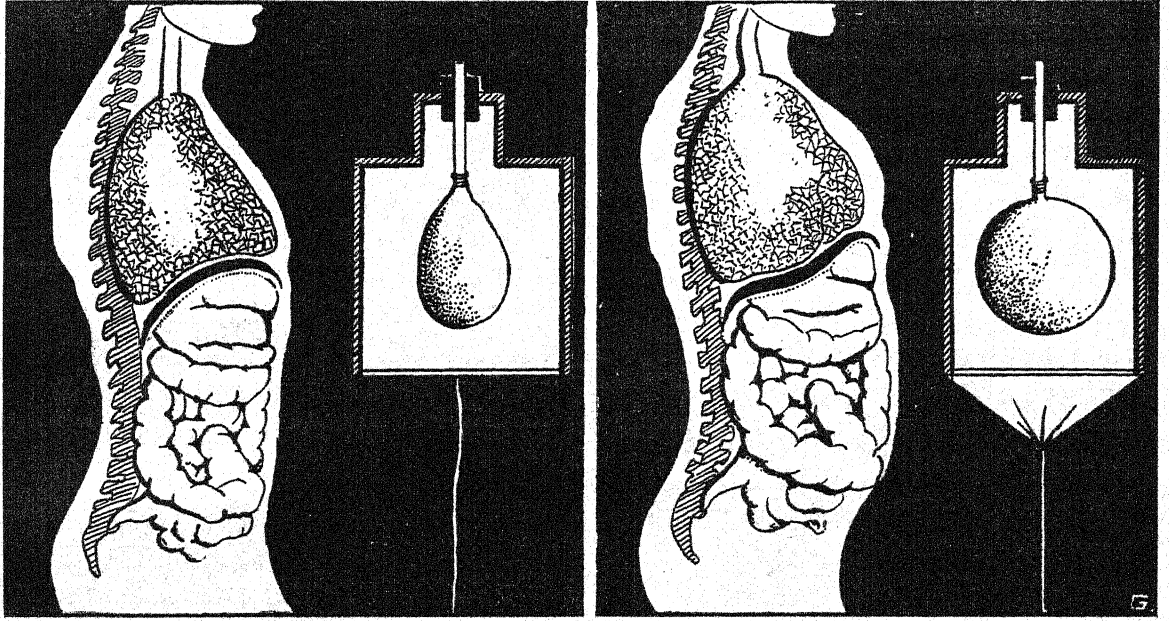
श्वास-प्रश्वास की क्रियाएँ

साधारण अवस्था में महाप्राचीर परदा मेहराब की तरह ऊपर उठा हुआ फेफड़ों को दबाए रखता है। श्वास खींचते समय मांसपेशियों के सिकुड़ने से यह पर्दा नीचे को दबकर आँतों को ढकेलकर चिपटा हो जाता है, साथ ही पसलियाँ ऊपर सामने को उभरती हैं। सीना फैलने पर फेफड़ा भी फूल जाता है अतः बाहर से इसमें हवा प्रवेश कर जाती है (चित्र २)। श्वास निकलते समय इसी की ठीक विपरीत क्रिया होती है।

बग़ल के चित्र में ग़ुब्बारा दिखलाया गया है जो ठीक फेफड़े का अनुकरण करता है। नली में बँधा हुआ ग़ुब्बारा एक बड़ी बोतल में रखा है जिसके पेंदे को हटाकर उसके स्थान पर रबड़ की झिल्ली लगा दी गयी है। झिल्ली को नीचे खींचने पर ग़ुब्बारा फूलने लगता है, और उसे छोड़ देने पर झिल्ली को अपनी असली दशा पर पहुँचने के साथ ही ग़ुब्बारा भी पिचक जाता है।

अतः प्रति मिनट सब रक्त पूरी तौर से एक या दो बार शुद्ध हो जाता है। इसी के लिए तो प्रकृति ने फेफड़ों में सहस्रों नन्हें-नन्हें वायु-कोषों में और टेढ़ी-मेढ़ी नलिकाओं में सैकड़ों गज़ लम्बी खाल भर दी है कि जिससे वहाँ पर भीतरी रक्त बाहरी हवा से थोड़ी ही सी जगह में मिल जाय।

फेफड़ों के क्षेत्रफल में लगभग ६० लाख वायु-कोष और हवा की महीन-महीन सहस्रों नलिकाएँ सम्मिलित हैं। हिसाब लगाया गया है कि यदि प्रत्येक वायु-कोष की झिल्ली फैला दी जाय और ये ६० लाख छोटे-छोटे टुकड़े बराबर-बराबर बिछा दिये जायँ तो ३० फ़ीट लम्बे-चौड़े कमरे के फ़र्श को ढक लेंगे।

श्वास लेना और निकालना

अब हम साँस लेने और निकालने की क्रिया पर विचार करेंगे। श्वास की एक पूर्ण क्रिया में एक बार हवा भीतर खींचना (उच्छ्वास) और एक बार हवा बाहर फेंकना (प्रश्वास) सम्मिलित हैं। जवान आदमी एक मिनट में १५-१६ बार साँस लेता है और औरत १८ बार किन्तु नवजात बालक ३० बार श्वास लेते हैं। यह तो आप जान ही गये हैं कि फेफड़ों की दीवालें नर्म झिल्ली की हैं। उनमें मांसपेशियों की तरह स्वयं सिकुड़ने और फैलने की शक्ति नहीं है तो फिर उनमें हवा कैसे जाती है! पसलियों के बीच के पुट्ठे और महाप्राचीर पेशी, जो मेहराब की तरह अपने बीच का हिस्सा ऊपर को उठाये हुए सीने को पेट के भाग से अलग करती है, इस काम में हमारी सहायता करती है। सीने की हड्डी और पसलियाँ मांसपेशी द्वारा इस प्रकार एक दूसरे से जकड़ी हुई हैं कि वे एक दूसरे के ऊपर हरकत कर सकती

हैं और महाप्राचीर पेशी भी गति कर सकती है। जब हम भीतर साँस खींचना चाहते हैं तो पसलियों को बाहर की ओर फैलाते हैं जिससे छाती की समाई बढ़ जाती है। ज्यों-ज्यों पसलियाँ पेशियों के सिकुड़ने से ऊपर को उठती हैं छाती की हड्डी भी सामने की तरफ़ उठती है। इससे सीने की गहराई सामने से पीछे और दाहिने से बाएँ दोनों ओर बढ़ जाती है। महाप्राचीर पेशी का उठा हुआ हिस्सा उधर की ओर दबकर चपटा हो जाता है जिससे छाती के भीतर की जगह नीचे की ओर भी बढ़ जाती है। इन सब क्रियाओं से सीने की ख़ाली जगह बढ़ जाती है और जैसे-जैसे वह फैलती है बाहर की हवा अपने दबाव से फेफड़ों में घुसती जाती है। हवा के थैले फैल जाते हैं और फेफड़े भी फूलकर कुछ बड़े हो जाते हैं। यही भीतर साँस लेने की रीति है। इसमें हमको कुछ प्रयत्न करना पड़ता है और मांसपेशियों से काम लेना पड़ता है।

श्वास बाहर निकालने अथवा प्रश्वास-क्रिया में हमको कोई भी चेष्टा नहीं करना पड़ती क्योंकि सिकुड़ी हुई पेशियाँ जब साँस भीतर लेने के बाद ज्यों-की-त्यों होने लगती हैं तब फेफड़ों की लचीली दीवालें दबने लगती हैं उनके वायु-कोष छोटे हो जाते हैं और उनमें से कुछ हवा बाहर निकल जाती है; सीना और महा-प्राचीर पेशी अपनी असली हालत में आ जाती हैं। पेट की दीवाल भी, जो साँस भीतर जाते समय ऊपर को उभरती है, साँस निकलने पर दब जाती है।

स्त्री, पुरुष और बालक एक ही प्रकार से साँस नहीं लेते

छोटे बच्चों में हवा सीने के अन्दर ख़ासकर महा-प्राचीर पेशी की गति द्वारा खिंचती है और इसीलिए उनका पेट ज़्यादा उठता और दबता दिखलाई देता है। इस प्रकार साँस लेने को पेट से साँस लेना कहते हैं। स्त्रियों में ऊपरी पसलियों की चाल से अधिक काम लिया जाता है कि जिससे महाप्राचीर पेशी को बहुत सहायता मिलती है। इस रीति से साँस लेना सीने से साँस लेना कहलाता है। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा वक्षःस्थल की मांसपेशियों से अधिक काम लेती हैं और महाप्राचीर पेशी से कम। इसका भी कारण है। यदि बच्चों की तरह उनकी भी आदत पेट से ही साँस लेने की होती तो उन्हें अपने जीवन के एक नाज़ुक समय में महाप्राचीर पेशी का दबाव गर्भ पर पड़ने से अधिक कष्ट होता। पुरुषों में महाप्राचीर पेशी और नीचे की पसलियों का प्रयोग ही अधिक होता है। उनके साँस लेने का तरीक़ा बच्चों और स्त्रियों के बीच का है।

हम कैसे खाँसते, हँसते और रोते हैं?

जब हवा की नली के ऊपरी भाग या कंठ में किसी कारण ख़राश या खुजली पड़ती है तो हम गहरी साँस लेते हैं। ऐसा होने पर हवा की नली का सूराख़ बन्द हो जाता है और फिर हवा के तेज़ झोंकों द्वारा एकदम खुल जाता है तथा यह हवा झटके के साथ मुँह से होकर बाहर निकल जाती है। इसी को हम खाँसना कहते हैं। यह इसीलिए होता है कि खुजली या ख़राश पैदा करनेवाली वस्तु अलग होकर हवा की झपट में बाहर निकल जाय।

छींक और खाँसी में केवल भेद यही है कि छींक में सरसराहट या ख़राश गले की अपेक्षा नथुनों या आँखों में अधिक होती है और हवा भी नथुनों से ही निकलती है मुँह से नहीं। सिर में सर्दी लग जाने पर या ज़ुकाम हो जाने से नाक की भीतरी झिल्ली सूज जाती है और उस पर ठंडी हवा लगने से ही बार-बार छींकें आती हैं। आँखें उठ आने पर या आँखों पर रोशनी पड़ने से भी छींकें आने लगती हैं। इस अवस्था में रोगी अपनी आँखें अधिकतर बन्द ही रखता है; किन्तु कभी-कभी जब वह उन्हें खोलने का प्रयत्न करता है छींक आ जाती है।

जमुहाई लेने में हम बहुत गहरी साँस खींचते हैं और साथ-साथ नीचे के जबड़े को गिराते हैं जिससे मुँह ख़ूब खुला रहे।

छोटी और जल्दी-जल्दी साँस निकालने से हँसी आने लगती है। जब हम हँसते हैं तो पहले लम्बी साँस लेते हैं और फिर जल्दी-जल्दी झटके के साथ साँस बाहर फेंकते हैं। इससे स्वर-रज्जु कम्पित होकर हँसी की आवाज़ उत्पन्न करता है। हँसने पर चेहरे पर अपनी अनोखी गति होती है।

रोना भी इसी प्रकार की क्रिया है लेकिन उसमें चेहरे की गति भिन्न होती है।

सिसकने में हम छोटी-छोटी काँपनेवाली साँसें लगा-तार भीतर खींचते हैं।

हिचकी एक प्रकार का अचानक भीतर साँस लेना है जो हवा की नली के द्वार के बन्द हो जाने से एकदम रुक जाती है। हिचकी में जो आवाज़ सुनाई देती है वह भीतर जानेवाली हवा के बन्द द्वार पर टकराने से पैदा होती है। हिचकी उस नाड़ी की शाखाओं की उत्तेजना से आती है जो आमाशय में समाप्त होती हैं।

नल में पानी कहाँ से आता है ?

वायु की भाँति पानी भी मनुष्य की एक अनिवार्य आवश्यकता है। प्राचीन काल में जब मानव-समाज अपनी शैशवावस्था में से होकर गुज़र रहा था, लोग पहाड़ी झरनों, तालाबों तथा नदी के समीप अपने घर बनाया करते थे ताकि पानी उन्हें प्रचुर मात्रा में लभ्य हो सके। मध्य एशिया की अनेक अर्द्धसभ्य जातियाँ प्रति वर्ष एक स्थान से दूसरे स्थान को पानी की खोज में आज दिन भी अपना डेरा-डण्डा उठाकर जाया करती हैं।

किन्तु विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने अपनी जल-सम्बन्धी समस्या को भी बख़ूबी हल कर लिया है। पानी की खोज में उसे अब एक जगह से उठकर दूसरी जगह जाना नहीं पड़ता। उसने सैकड़ों कोस की दूरी से अपने लिए पानी मँगाया है—कहीं-कहीं वह पाताल तोड़कर पम्प की सहायता से अपने लिए पानी खींच लेता है। प्रायः बीच नदी में बाँध डालकर वह नदी के जल को रोककर झील बना लेता है और इसी कृत्रिम झील से समूचे नगर में बारहो महीने पानी पहुँचता रहता है।

देहात में हर दो-दो तीन-तीन घर पीछे एक कुआँ खोद लेते हैं और देहातवालों की पानी सम्बन्धी सभी आवश्यकताएँ इन्हीं कुओं से पूरी हो जाती हैं। किन्तु शहरों में घनी आबादी के कारण प्रति दो-दो तीन-तीन घर पीछे कुएँ खोदे नहीं जा सकते। साथ ही शहर के भीतर यदि तीस-चालीस हज़ार कुएँ खोद भी लिये जायँ तो उनसे अधिक मात्रा में पानी मिल न सकेगा, क्योंकि पृथ्वी के भीतर सब ठौर आभ्यन्तरिक जल की मात्रा परिमित ही होती है। इसी कारण बड़े-बड़े नगरों में नगर-निवासियों की आवश्यकता पूरी करने के लिए जल का विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है।

प्राचीन काल में बड़े शहरों के लिए जल का समुचित प्रबन्ध करना निस्सन्देह एक भारी समस्या थी, क्योंकि उन दिनों इञ्जीनियरिंग की कला का विकास आधुनिक इञ्जीनियरिंग कला की तुलना में एकदम नगण्य-सा था। रोम नगर के इञ्जीनियरों ने इस सम्बन्ध में प्रशंसनीय उद्योग किये थे। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों में से सुरंग काटकर रोमन इञ्जीनियरों ने पहाड़ी झीलों और झरनों से रोम नगर में पानी लाने का प्रबंध किया था। रोम-निवासी जल का प्रयोग एक विशाल पैमाने पर किया करते थे। इनके सामाजिक जीवन में स्नानगृहों को विशेष महत्त्व प्राप्त था। मनोरंजन, विचारों के आदान-प्रदान तथा खेल-कूद सभी चीज़ें स्नानगृह से सम्बद्ध थीं। आधुनिक क्लबों की तुलना हम रोमन स्नानगृहों के साथ कर सकते हैं। अतः रोम नगर में पानी का ख़र्च अत्यन्त ही अधिक था। अनुमान लगाया गया है
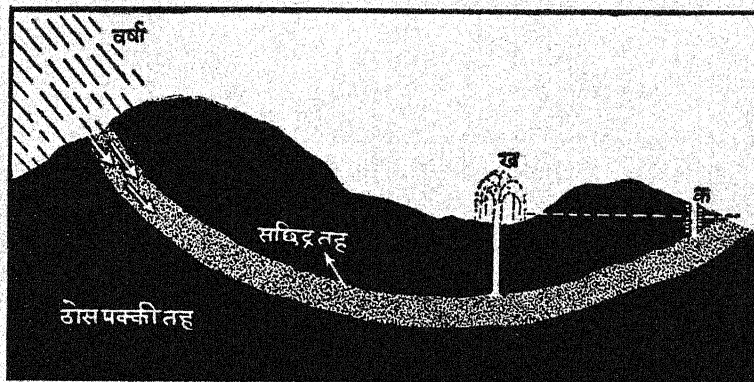
आर्टीज़न कुआँ

कि जितना पानी आजकल प्रतिदिन लन्दन में ख़र्च होता है, लगभग उसका एक तिहाई पानी उन दिनों रोम-निवासी ख़र्च करते थे। तत्कालीन इञ्जीनियरों ने रोम के लिए इतने विशाल पैमाने पर पानी का प्रबन्ध करने में निस्संदेह ऊँचे दर्जे के बुद्धि-कौशल का परिचय दिया है। यूनान में भी पहाड़ी झरनों से नगरों में पानी ले जाने के लिए लम्बी-लम्बी सुरंगें पहाड़ों में खोदी गई थीं।

ईसा से २६६ वर्ष पूर्व रोमन इञ्जीनियरों ने ४३ मील लम्बी सुरंग पानी लाने के लिए पहाड़ियों को काटकर बनायी थी। ये सुरंगें एकदम सीधी और सही कटी थीं। जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में देखा है, सुरंग खोदने के लिए विज्ञान की भरपूर मदद आजकल ली जाती है। किन्तु उन दिनों सुरंग का धरातल तथा उनकी दिशा ठीक रखने के लिए कोई यंत्र लभ्य न थे, फिर भी रोमन सुरंगों की दिशा या उनके धरातल में किसी प्रकार का दोष आने नहीं पाया था। यूनान और इटली में इन सुरंगों के भग्नावशेष आज दिन भी देखे जा सकते हैं। जब हम सोचते हैं कि उन दिनों आजकल जैसी संकुचित वायु द्वारा परिचालित बर्मियाँ भी न थीं, तब इन सुरंगों को देखकर हमें आश्चर्य से दाँतों तले अपनी उँगली दबानी पड़ती है।

रोमन इञ्जीनियर भी आजकल की तरह ही सुरंगों आदि से पानी लाकर एक विशालकाय तालाब में उसे एकत्रित करते। फिर उसे अच्छी तरह निथार और छान कर नगर-निवासियों के घरों में पहुँचाते।

जल-सप्लाई की योजना को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) पानी का इकट्ठा करना, (२) नगर के पास उसे पहुँचाना और (३) उसे शुद्ध करके नलों की सहायता से घरों में पहुँचाना।

शहर यदि किसी पहाड़ी झरने के पास बसा हुआ है, तो इसी झरने का पानी काम में ला सकते हैं। किन्तु बारहो महीने झरने या पहाड़ी सोते में पानी समान मात्रा में नहीं आता, इस कारण नगर-निवासियों को साल भर नियमित रूप से पानी देने के लिए झरने के ऊपर ही नदी में बाँध डालकर एक कृत्रिम तालाब बनाना पड़ता है। तालाब में पानी इतनी अधिक मात्रा में इकट्ठा हो जाता है कि सूखे के दिनों में जब झरने में पानी नाममात्र को ही रह जाता है, तब भी शहर की सप्लाई पूर्ववत् बनी रहती है। मिर्ज़ापुर शहर के लिए लगभग १० मील की दूरी से टाँडा फाल्स (झरने) पर बने हुए तालाब से जल लाया जाता है। विन्ध्याचल पर्वत पर टाँडा झरने के ऊपर ही नदी को घेरकर एक लम्बा-चौड़ा तालाब बना लिया गया है। इसी तालाब से वाल्व के ज़रिये चौड़े मुँह के पाइप में पानी मिर्ज़ापुर शहर को भेजते हैं। चूँकि यह तालाब काफ़ी ऊँचाई पर बना हुआ है, इस कारण शहर में दुमंज़िले-तिमंज़िले मकानों में भी पानी आसानी से चढ़ जाता है।

इङ्गलैण्ड में भी बर्मिंघम, लिवरपूल और मैन्चेस्टर में पानी निकटवर्ती पर्वतों की घाटी से आता है। घाटी में पानी का कृत्रिम तालाब बनाने के पहले उस क्षेत्र की भली
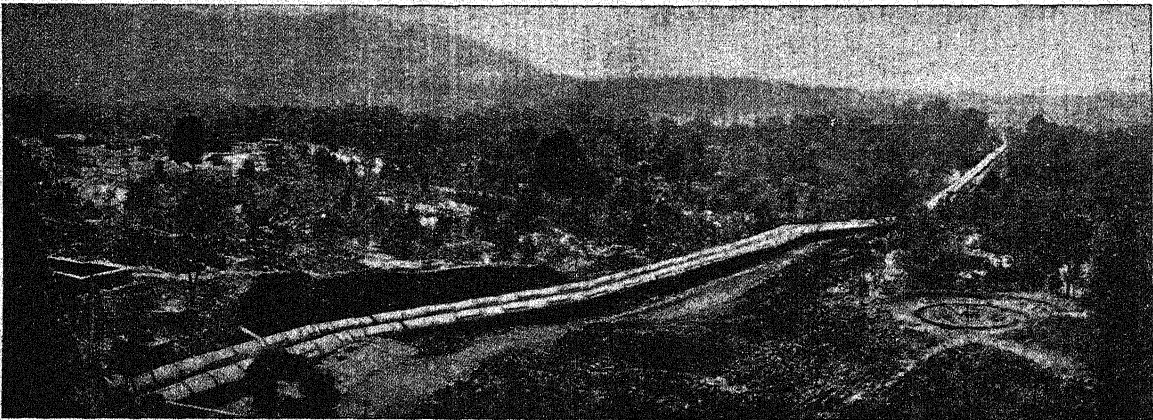
टन्सा की पाइप लाइन

इस पाइप लाइन में से होकर ५१ मील की दूरी से बम्बई के लिए पानी आता है। प्रति दिन ६ करोड़ गैलन पानी इसमें से होकर बहता है। पाइप का व्यास ६ फ़ीट है। समूचे पाइप का वज़न १० हज़ार टन से भी ऊपर है।

भाँति पैमायश की जाती है कि साल के भिन्न-भिन्न महीनों में उस घाटी में कितनी वर्षा होती है? तथा घाटी की भूमि और तलछटी कैसी है? इन सब बातों की जानकारी हासिल कर लेने के उपरान्त ही इञ्जीनियर सही-सही तख़मीना लगा सकता है कि उस घाटी से शहर की आवश्यकतानुसार उसे पानी हर साल मिल सकेगा या नहीं। बर्मिंघम में जल पहुँचाने के लिए ७५ मील की दूरी पर घाटियों में नदियों को घेरकर तीन कृत्रिम तालाब बनाये गए हैं। लोहे के बड़े साइज़ के पीपे इस कृत्रिम तालाब से शहर तक बिछाये गये हैं। इन्हीं में से होकर पानी शहर की टङ्की में पहुँचता है। कृत्रिम तालाब के निर्माण के लिए बहुत ही मज़बूत क़िस्म के बाँध बनाने पड़ते हैं, अन्यथा पानी का वेग बाँध को तोड़ सकता है। मार्च ११, १८६४ ई० को शेफ़ील्ड का बाँध अचानक टूट गया—जैसे एक बाढ़-सी आ गई। करोड़ों की सम्पत्ति की हानि हुई और २४४ व्यक्ति इस बाढ़ में डूबकर मर गये।

टोंटी का चित्र

पेंच घुमाने से पानी कम या अधिक मात्रा में कैसे प्राप्त करते हैं।

इस कृत्रिम तालाब से एक वाल्व-टावर द्वारा पानी पाइप में जाता है। यह टावर साधारणतया एक दुहरी दीवाल का सूखा कुआँ होता है। भीतरी और बाहरी दीवालों के बीचवाली जगह में भिन्न-भिन्न गहराइयों पर वाल्व लगे होते हैं। इन्हीं वाल्व में होकर तालाब का पानी बाहर के पाइप में भेजा जाता है। इन तालाबों में से पानी न तो एकदम ऊपरी धरातल से लिया जाता और न एकदम पेंदे का। क्योंकि दोनों ही दशा में गंदा पानी पाइप में जा सकता है। अतः सदैव बीच का पानी वाल्व द्वारा पाइप में भेजते हैं। तालाब में पानी की गहराई के घटने-बढ़ने के साथ वाल्व भी बदलते रहते हैं। हर दशा में वही वाल्व इस्तेमाल करते हैं जो न एकदम सतह पर हों और न एकदम पेंदे के पास।

ऐसे शहर जो किसी पहाड़ी के निकट नहीं बसे हैं अपने लिए पानी पास ही बहती हुई नदी से लेते हैं। यदि नदी में पर्याप्त जल नहीं हुआ तो गहरे कुओं से पानी खींचते हैं। कभी-कभी दोनों ही रीतियाँ साथ-साथ काम में लाई जाती हैं। लन्दन के लिए टेम्ज़ और ली नदी से पानी लिया जाता है। किन्तु लन्दन की आवश्यकता के लिए यह पानी पूरा नहीं पड़ता। अतः यहाँ कई एक गहरे कुएँ भी खोदे गये हैं। इन पातालतोड़ कुओं से ज़मीन के नीचे का आभ्यन्तरिक जल प्रचुर मात्रा में ऊपर को खींचा जा सकता है। यदि कुआँ ऐसे स्थान पर खोदा गया है जहाँ पर ज़मीन की सतह निकट के सछिद्र तह से नीची है, तो ऐसे पातालतोड़ कुएँ से जल अपने आप ऊपर को निकलता है, क्योंकि द्रव पदार्थ सदैव अपना तल ढूँढ़ते हैं। ऐसे कुएँ को आर्टीज़न कुआँ कहते हैं। जिन पातालतोड़ कुओं की ऊपरी सतह निकट के सछिद्र तह से ऊँची होती है, उनमें से पानी स्वयं बाहर नहीं निकलता। ऐसे कुएँ में से पम्प द्वारा पानी उलीचकर बाहर निकाला जाता है।

पातालतोड़ कुएँ प्रायः १००० फ़ीट से भी अधिक गहरे होते हैं। इन कुओं की खुदाई में विशेष परिश्रम करना पड़ता है। चीन-निवासी आज से हज़ारों वर्ष पहले इस प्रकार के पातालतोड़ कुएँ बनाना जानते थे। नीचे की सख्त चट्टानों को तोड़ने के लिए बढ़िया क़िस्म की बर्मी का प्रयोग करना पड़ता है—कभी-कभी तो इन बर्मियों के सिरे पर हीरा जड़ देते हैं, ताकि बर्मी की नोक जल्दी घिस न जाय। इस बर्मी को हर बार गज़-दो गज़ ऊँचा उठाकर उस चट्टान पर नोक के बल गिराते हैं।
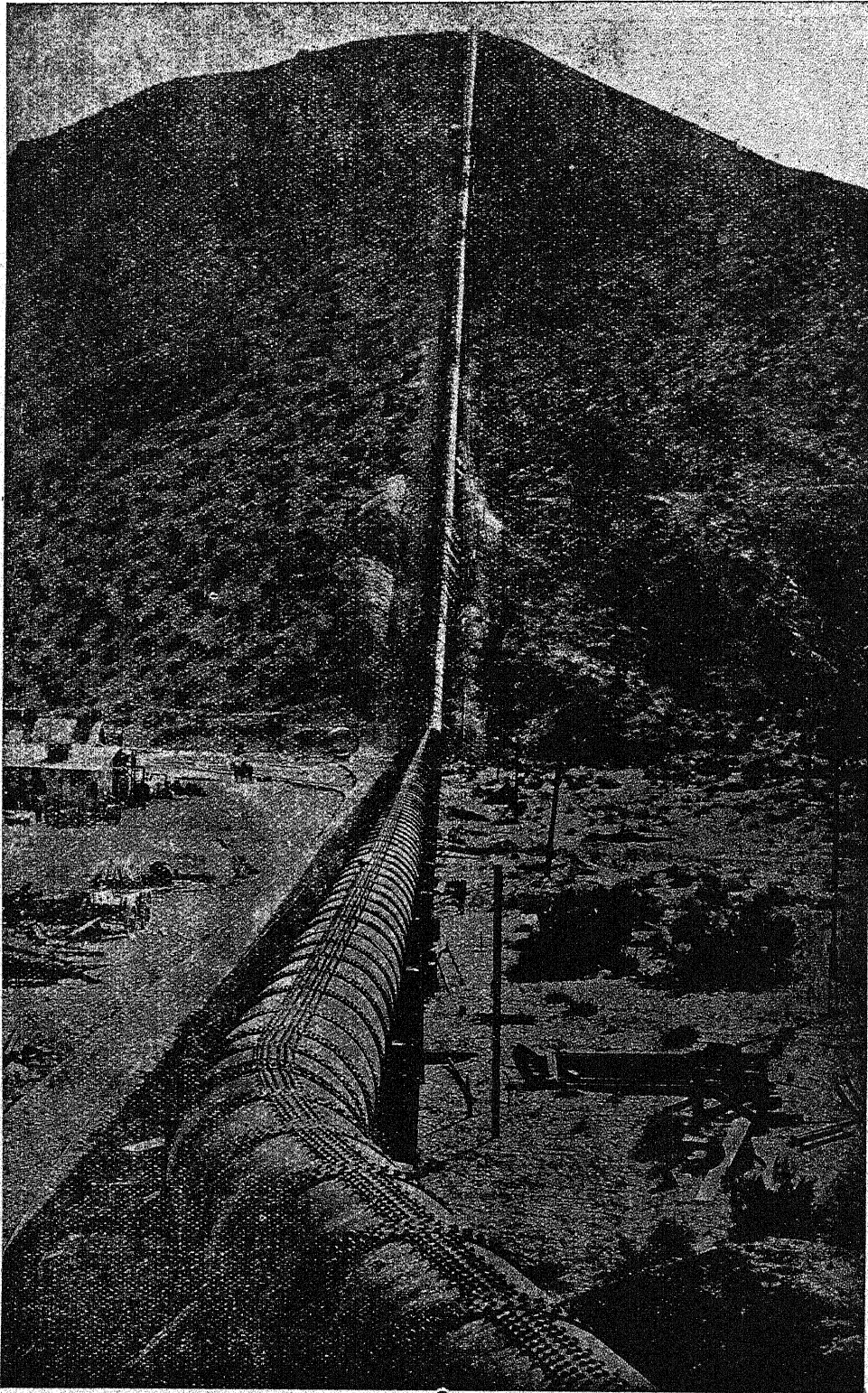
जॉ बोन (The Jaw Bone) साइफ़न

इस साइफ़न नल का व्यास ७ से १० फ़ीट चौड़ा है। यह लगभग डेढ़ मील लम्बा है, तथा इसका वज़न ३,२४३ टन है।

बर्मी के आघात से चट्टान टूटकर बुकनी हो जाती है। इस प्रकार इंच-इंच करके कुआँ खोदने का काम आगे बढ़ता है।

आर्टीज़न कुओं के खोदने में ख़र्च बहुत बैठता है, अतः छोटे-छोटे शहरों में छिछले किन्तु पक्के कुएँ खोदे जाते हैं। इस्पात की चद्दरों के दो एक-केन्द्रक (Concentric) पीपे लम्बवत् एक के बीच दूसरे नरम ज़मीन में धँसा देते हैं। पेंदे में ये दोनों चौड़े मुँहवाले पीपे एक तिकोने किनारे पर जुड़े होते हैं, इस प्रकार इन युगल पीपों के पेंदे में एक तेज़ धार-सी बन जाती है। इस धार की सहायता से लोहे का यह कुआँ भी काफ़ी गहराई तक पहुँच जाता है। फिर दोनों पीपों की दीवालों के बीच की जगह में कन्क्रीट-सीमेण्ट भर देते हैं। अब कुएँ के अन्दर नीचे का शुद्ध जल ही छनकर पहुँचता है। ज़मीन की ऊपरी सतह का गन्दा पानी ऐसे कुएँ की दीवालों को भेदकर अन्दर नहीं पहुँच सकता। मथुरा यद्यपि जमुना नदी के किनारे बसा हुआ है, फिर भी यहाँ के वाटर-वर्क्स के लिए पानी जमुना नदी से नहीं लिया जाता है, क्योंकि गर्मी तथा जाड़े के दिनों में जमुना में यहाँ केवल नाममात्र को पानी रह जाता है। अतः मथुरा में भी साधारण ढंग के छिछले कुएँ खोदे गये हैं। यहाँ के अधिकारियों ने उपर्युक्त रीति से इस्पात के पीपे तो ज़मीन के अन्दर नहीं गलाये हैं, किन्तु फिर भी कुओं की दीवालों को उन्होंने इतनी मज़बूत और पक्की बना दी है कि ऊपरी सतह का गन्दा पानी इन दीवालों को भेदकर अन्दर नहीं पहुँच सकता।

इस्पात के पीपे गलाने की अपेक्षा ट्यूब-वेल खोदने में ख़र्च कम बैठता है, साथ ही पानी भी गहराई पर से शुद्ध निकलता है। ट्यूब-वेल केवल नरम मिट्टी में गलाये जा सकते हैं। इनकी गहराई प्रायः ६०–७० फ़ीट से लेकर १०० फ़ीट तक पहुँचती है।

कुएँ और पहाड़ी झीलों का पानी शुद्ध और निर्मल होता है, अतः इस पानी को शुद्ध करने या छानने की ज़रूरत नहीं पड़ती। सीधे पम्प द्वारा इसे टङ्की में भेज
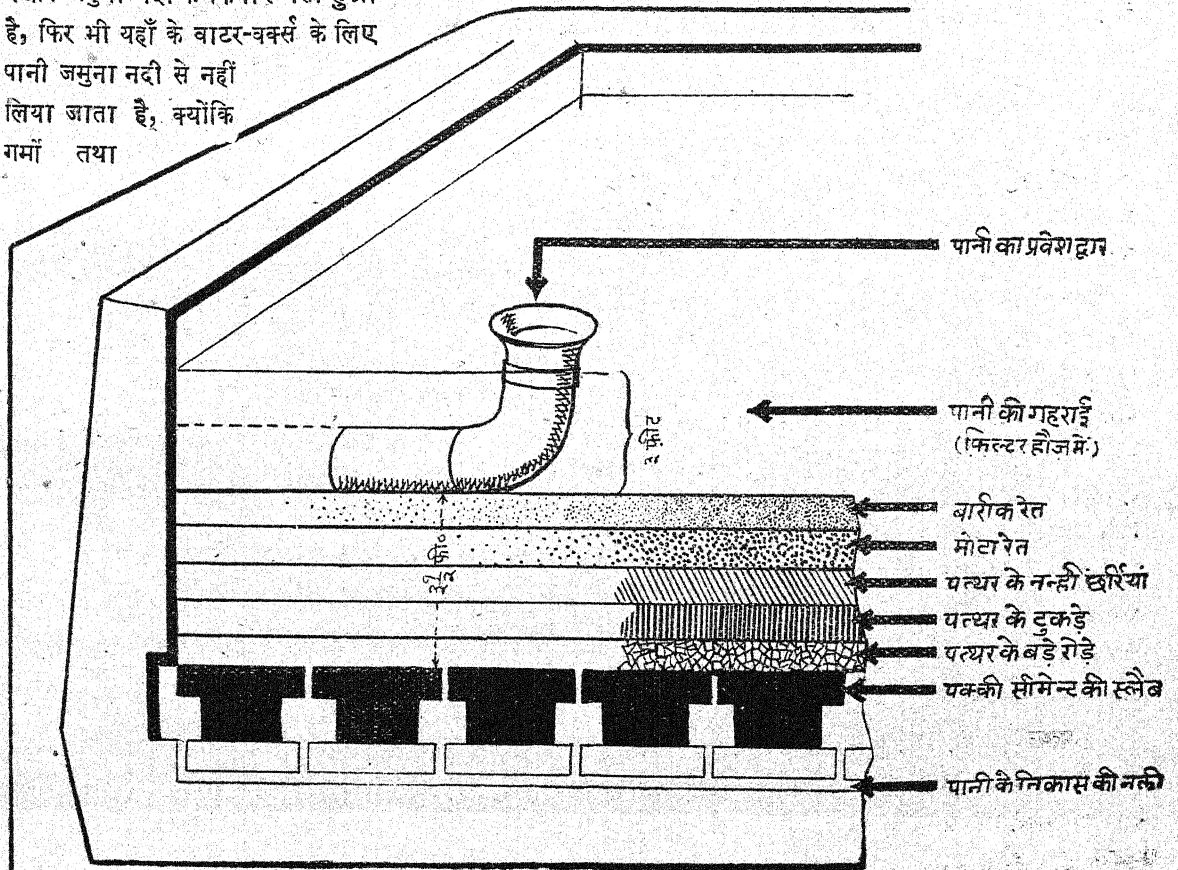
फिल्टर टैङ्क

देते हैं और फिर सारे शहर में पाइप की सहायता से इसका वितरण हो जाता है। लेकिन अधिकांश शहरों में नदियों से पानी लिया जाता है, और सदैव बहते रहने के कारण यह पानी अनिवार्य रूप से गन्दा रहता है। गर्द, मिट्टी और कूड़ा-कर्कट के अतिरिक्त भाँति-भाँति के कीटाणु भी नदी के जल में प्रचुरता से पाये जाते हैं। अतएव ऐसे जल को सप्लाई-टङ्की में भरने के पूर्व अच्छी तरह साफ़ कर लेना नितान्त आवश्यक होता है।

नदी या तालाब के जल को पहले वाटर-वर्क्स के छिछले तालाबों में ले जाते हैं। पानी में तैरती हुई अनेक चीज़ें, जैसे धूलिकण तथा वनस्पति पदार्थ और खनिज पदार्थ आदि थिराकर तालाब के पेंदे में बैठ जाती हैं। इस क्रिया में ये चीज़ें अपने साथ इस पानी के अनेक कीटाणुओं को भी लेकर बैठ जाती हैं। थिराने की क्रिया को सफल बनाने के लिए पानी में (अल्यूमिना सल्फ़ेट) फिटकरी या इसी जाति के अन्य रासायनिक यौगिक डाल दिये जाते हैं। पानी में इसे डालने से उसमें तैरती हुई चीज़ों का थक्का बँध जाता है और फिर ये समूची चीज़ें तह में बैठ जाती हैं।

इलाहाबाद में जमुना नदी से करेलाबाग़ में पानी पम्प द्वारा खींचकर उसे इस्पात के पाइप द्वारा ख़ुसरोबाग़ के वाटर-वर्क्स में भेजते हैं—यहाँ पर तीन बड़े-बड़े तालाबों में पानी थिराता है। प्रत्येक तालाब ३०० फ़ीट लम्बा, २०० फ़ीट चौड़ा और २० फ़ीट गहरा है।

थिरानेवाले तालाब से पानी छननेवाले तालाब में जाता है—छननेवाले तालाब दो प्रकार के होते हैं। एक धीमी गति से छाननेवाला तालाब (slow filter-tank) और दूसरा तेज़ रफ़्तार से छाननेवाला यांत्रिक (Rapid filter-tank) तालाब। कुछ दिनों पूर्व धीमी गति से छननेवाले तालाब ही हरएक वाटरवर्क्स में इस्तेमाल किये जाते थे। धीमी गति से छननेवाले तालाब में पानी छानने के लिए सबसे ऊपर ढाई-तीन फ़ीट मोटी बारीक रेत की तह बिछाई जाती है। इस तह में सबसे ऊपर की रेत एकदम बारीक होती है, फिर ज्यों-ज्यों नीचे आते हैं, त्यों-त्यों रेत के कण भी मोटे होते जाते हैं। रेत की तह के नीचे पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों की एक तह जमाई जाती है। यह तह लगभग एक फ़ीट मोटी होती है, इसके नीचे छिद्रमय ईंटें रक्खी होती हैं। इनमें से छनकर एकदम शुद्ध और निखरा हुआ पानी तालाब के पेंदे में बनी हुई नालियों में से होकर बाहर निकलता है। पानी को धीरे-धीरे छनने के लिए यह ज़रूरी है कि बालू के ऊपर पानी की गहराई दो-तीन फ़ीट से अधिक न पहुँचने पाये। इन तालाबों में जिस नल से पानी आता है, उनके प्रवेश-मुँह पर तैरनेवाले वाल्व लगे रहते हैं—पानी इस तालाब में ज्योंही नियत धरातल पर पहुँचा, ये वाल्व अपने आप बन्द हो जाते हैं।

बालू और पत्थर के टुकड़ों में से होकर पानी ज्यों-ज्यों नीचे को जाता है, वह रास्ते में अपनी गन्दगी को छोड़ता जाता है। बालू की तह निरी छलनी का ही काम नहीं करती है, वरन् पानी के अन्दर तैरते हुए कीटाणुओं को भी रेत की तह ऊपर ही रोक लेती है। किन्तु यह सोचना ग़लत है कि ये कीटाणु बालू के कणों के बग़ल में से होकर गुज़र नहीं सकते। वास्तव में कीटाणुओं का साइज़ इतना छोटा होता है कि वे रेत के कणों के बग़ल में से होकर इतनी ही आसानी से गुज़र सकते हैं जितनी आसानी से मक्खियाँ मछुए के जाल में से होकर निकल जाती हैं।

रेत की तह में से होकर पानी जब नीचे जाने लगता है तो तीन-चार दिनों में रेत की तह के ऊपर चिकनी-चिकनी एक झिल्ली-सी जम जाती है। पानी के कीटाणु इस झिल्ली को पार करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। झिल्ली की इस परत को एल्जीआ (Algea) कहते हैं। इस डर से कि एल्जीआ टूट न जाय, पानी छानने की क्रिया को धीमी रखते हैं। क्योंकि एल्जीआ टूट जाने पर छने हुए पानी में भी कीटाणु पहुँच जायँगे और ऐसा जल पीने के काम न आ सकेगा। जब कभी ताज़ी रेत की तह में से पानी छाना जाता है, तो पहले तीन-चार दिनों तक छने हुए पानी को टङ्की में नहीं ले जाते। क्योंकि तीन-चार दिनों के उपरान्त ही झिल्ली की परत ठीक तौर पर बन पाती है।

दो-तीन महीने के उपरान्त रेत की ऊपरी तह में गर्द आदि इतनी अधिक मात्रा में इकट्ठी हो जाती है तथा एल्जीआ की झिल्ली भी इतनी मोटी पड़ जाती है कि बहुत कम पानी छनकर नीचे जा पाता है। इस कारण हर दो महीने पर ऊपर की रेत खुरचकर बाहर निकाल ली जाती है। अब पुनः तीन-चार दिन तक पानी को टङ्की में नहीं ले जाते क्योंकि उस वक़्त तक एल्जीआ की नई परत बन नहीं पायी होती। कई बार खुरच लेने पर जब लगभग एक फ़ुट रेत निकल जाती है, तो ताज़ी और साफ़ की हुई पक्की रेत की तह फिर बिछा देते हैं

ताकि रेत की मुटाई ढाई-तीन फ़ीट बनी रहे।

तीव्र गति से छाननेवाले हौज़ में बड़े साइज़ के रेत के कण इस्तेमाल किये जाते हैं। इस कारण कीटाणुओं को रोकने की शक्ति इस हौज़ में नहीं होती। अतः रैपिड फिल्टर (तीव्रगति के छनने) से छने हुए पानी में क्लोरीन-सरीखी गैसों का मिलाना आवश्यक हो जाता है ताकि रोग-कीटाणु नष्ट हो जायँ। रैपिड फिल्टर में भेजने के पूर्व फिटकरी की जाति के रासायनिक यौगिक को पानी में डालकर उसमें घुले हुए विजातीय पदार्थ को थक्के के रूप में परिणत कर लेते हैं। ये पदार्थ पेंदे में बैठ जाते हैं। इस तालाब में से पहले नीचे की तह का जल रैपिड-फिल्टर के हौज़ में ले जाते हैं। इस हौज़ की दीवाल इस्पात की मज़बूत चद्दरों की बनी होती है, या कभी-कभी सीमेन्ट की भी बना लेते हैं। रैपिड-फिल्टर में भी एक झिल्ली-सी बालू की ऊपरी सतह पर बन जाती है किन्तु 'एलजीआ' की भाँति यह कीटाणुओं को रोकने में समर्थ नहीं होती। हौज़ में पानी की ऊँचाई आठ फ़ीट के लगभग होती है। कुछ ही घण्टों में बालू की सतह पर इतनी मोटी झिल्ली जम जाती है कि पानी के छनने की रफ़्तार बिल्कुल मन्द पड़ जाती है। रेत को साफ़ करने के लिए अब पेंदे के पाइप में से पानी की तेज़ धार तथा संकुचित वायु हौज़ में प्रवेश कराते हैं।

बालू में फँसी हुई तमाम गन्दगी अब हवा के बुलबुलों के संग ऊपर तैरने लगती है। इसे अलग हटा देते हैं। संकुचित वायु और पानी की तेज़ धार की टोंटियाँ बन्द कर दी जाती हैं और पानी छानने की क्रिया पुनः आरंभ कर दी जाती है। हर बारह घण्टे पर रैपिड फ़िल्टर की रेत को इस रीति से साफ़ करना पड़ता है। किन्तु धीमी गति से छननेवाले तालाब की रेत साफ़ करने में समय भी अधिक लगता है और तरद्दुद भी ज़्यादा होती है।

पाश्चात्य देशों में छने हुए पानी की गन्ध दूर करने के लिए उसमें ताज़ी हवा भी प्रवेश कराते हैं। पानी में घुली हुई हवा की मात्रा बढ़ाने के लिए या तो पानी को फ़ौवारों में भेजते हैं या उन्हें कई सीढ़ियों से होकर नीचे गिरने देते हैं।

छना हुआ शुद्ध जल अब पम्प द्वारा एक ऊँची टङ्की में भरा जाता है। यह टङ्की ऊपर से ढकी होती है, क्योंकि खुली टङ्की में साफ़ किया हुआ जल शीघ्र ही ख़राब हो जाता है—इसकी सतह पर काई-सी जम जाती है। वाटर-वर्क्स की टङ्की मज़बूत और ऊँचे स्तम्भ पर रखी जाती है ताकि नगर के ऊँचे मकानों में भी पानी चढ़ सके। इलाहाबाद की टङ्की ज़मीन की सतह से ६० फ़ीट ऊँची है। टङ्की ऊँची रखने से फ़ायर-ब्रिगेड के लिए भी पानी की तेज़ धार मिल सकती है।

टङ्की से पाइप द्वारा पानी पम्प में आता है और यही पम्प शहर को जानेवाले मुख्य पाइप में पानी भेजता है। लगभग सभी जगह पानी चढ़ाने के लिए सेन्ट्रीफ़ूगल पम्प इस्तेमाल किये जाते हैं। ये पम्प प्रायः विद्युत्-इंजिन द्वारा परिचालित होते हैं। यह पम्प ढोल की तरह गोल होता है। इस खोखले ढोल के अन्दर तेज़ी के साथ एक चक्र चक्कर लगाता है। इस चक्र में हत्थे (blades) लगे रहते हैं। जिस पाइप से पानी इस तल में प्रवेश करता है उसका मुँह इस चक्र की धुरी पर फ़िट किया होता है तथा दूसरा पाइप जिसमें से होकर पानी चढ़ाया जाता है, इस ढोल की परिधि के पास फ़िट किया जाता है।
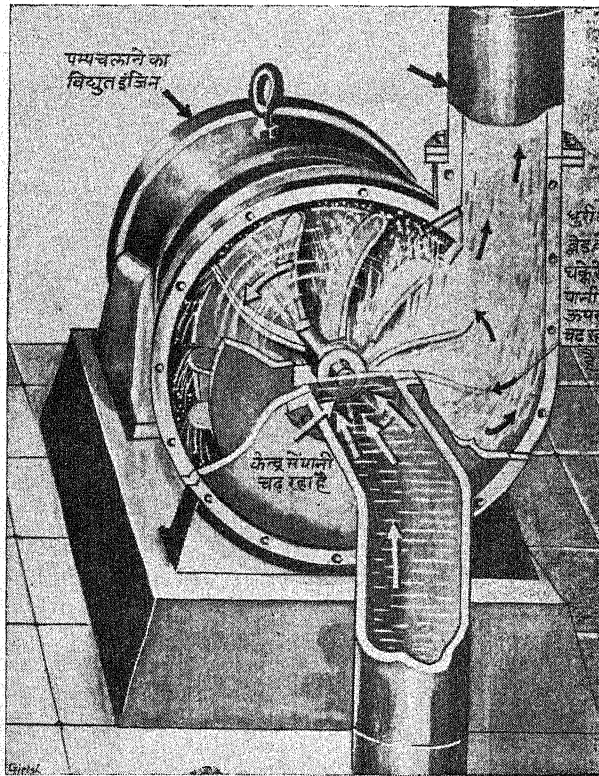
सप्लाई टङ्की में पानी चढ़ाने के लिए सेन्ट्रीफ़ूगल पम्प

जिस समय चक्र तेज़ी के साथ घूमता है, चक्र की सभी वस्तुएँ बाहर की ओर तीव्र वेग के साथ खिंच उठती हैं—उन पर सेन्ट्रीफ़ूगल शक्ति काम करती है। अतः पानी भी धुरी से परिधि की ओर खिंचता है। हत्थों के ज़ोर से यह पानी ऊपर पाइप में चढ़ जाता है। जब तक चक्र का घूमना जारी रहता है, सेन्ट्रीफ़ूगल खिंचाव धुरी से परिधि की ओर निरन्तर काम करता रहता है—फलस्वरूप पानी भी खिंचकर धुरी से परिधि की ओर चढ़ता रहता है। वाटर-वर्क्स में इस तरह के पम्प बहुतायत से इस्तेमाल किये जाते हैं, क्योंकि मटमैले पानी को भी यह पम्प बख़ूबी उलीच लेता है। ऐसे पम्प में किसी प्रकार का वाल्व नहीं लगा होता है, अतः वाल्व ख़राब होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अन्य क़िस्म के पम्पों से यदि गन्दा मटमैला पानी उलीचा जाय तो शीघ्र उसके वाल्व ख़राब होजाते हैं, फलस्वरूप ऐसे पम्प देर तक काम नहीं कर सकते।

शहर के प्रधान पाइप में जाने के पहले पानी 'मीटर' में से होकर गुज़रता है। मीटर में अपने आप इस बात का ब्योरा अंकित होता रहता है कि पानी की कितनी मात्रा वाटर-वर्क्स में से शहर को जा रही है। पानी नापनेवाले ये मीटर भिन्न सिद्धान्तों पर बने होते हैं। इनमें से एकाध का उल्लेख हम यहाँ करेंगे। डेकन-मीटर में एक चकरी एक खोखले लम्बवत् बर्त्तन में ऊपर से एक पतली ज़ंजीर द्वारा लटकती रहती है। यह ज़ंजीर एक पुली (गिर्री) पर से होकर गुज़रती है—ज़ंजीर के दूसरे सिरे पर एक बाँट लटकता रहता है। यह खोखला बर्त्तन पेंदे पर सँकरा होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों हम ऊपर को बढ़ते हैं, इस बर्त्तन का मुँह भी चौड़ा होता जाता है। बाँट का वज़न चकरी के वज़न से कम होता है। पानी जब पाइप में से होकर प्रवाहित होता है, तो पानी के वेग से इस चकरी को ऊपर की दिशा में धक्का पहुँचता है। यदि बाँट का खिंचाव और पानी का धक्का चकरी के वज़न से ज़्यादा हुए तो चकरी ऊपर को हरकत करती है। किन्तु कुछ दूर ऊपर खिसकने पर चकरी पर पानी का धक्का भी कम हो जाता है क्योंकि यहाँ खोखले बर्त्तन का फैलाव ज़्यादा है। अतः जब बाँट का वज़न और पानी का धक्का दोनों मिलकर चकरी के वज़न के
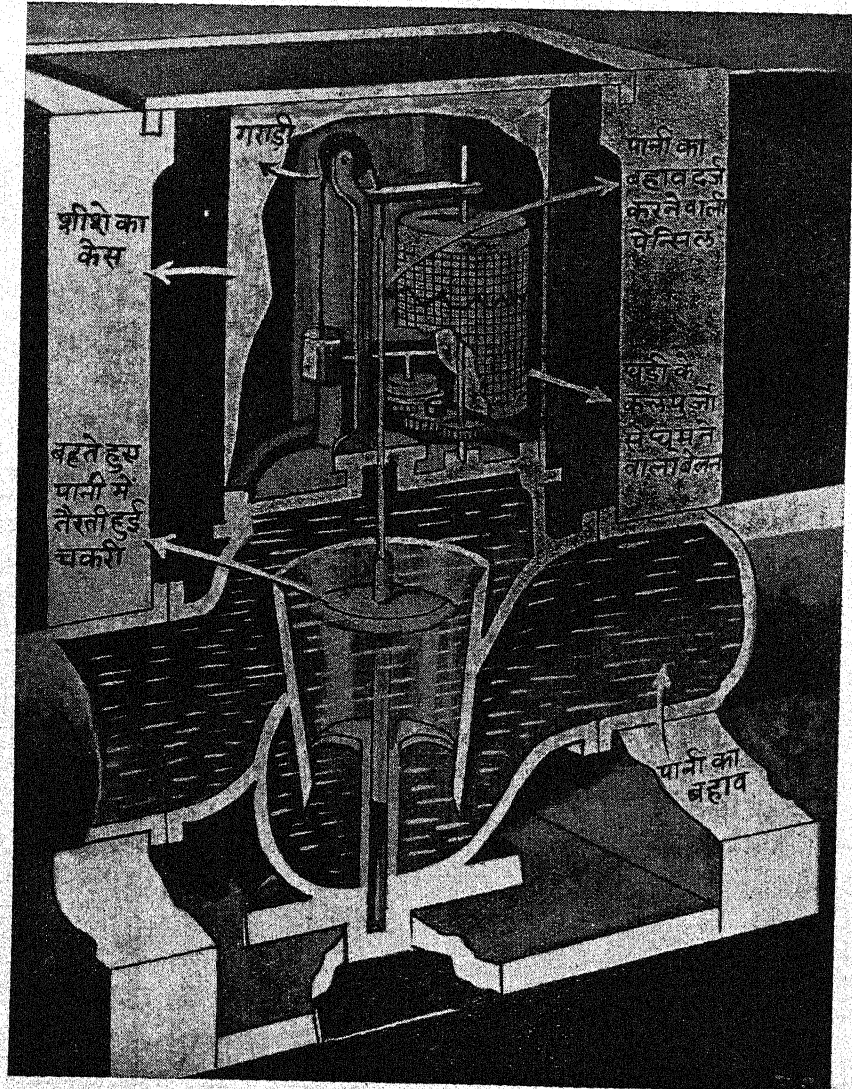
डेकन मीटर—नल में से होकर गुज़रनेवाले पानी की मात्रा नापने का यंत्र

बराबर हो जाते हैं तब चकरी अपनी समतुलित अवस्था में स्थिर हो जाती है। यदि पानी की धारा तेज़ हुई तो चकरी ऊपर को खिसकती है और यदि प्रवाह मन्द पड़ गया तो चकरी नीचे को खिसकती है। ऊपर ही लगे हुए एक समान गति से घूमते हुए बेलन पर इस चकरी की गति अंकित होती रहती है। इस लेखा को देखकर फ़ौरन् पता लगा लेते हैं कि गत २४ घण्टे में पानी के प्रवाह की गति क्या थी। इस प्रकार आसानी से मालूम कर लेते हैं कि प्रतिदिन शहर में कितना पानी ख़र्च हो रहा है। इलाहाबाद के वाटर-वर्क्स के रेकार्ड देखने से पता चलता ह कि इलाहाबाद में जाड़े की ऋतु में प्रतिदिन ५० लाख गैलन पानी ख़र्च होता है और गर्मी के दिनों में ८५ लाख गैलन पानी प्रतिदिन शहर में भेजना पड़ता है।

किसी-किसी वाटर-वर्क्स में वेञ्चुरी मीटर का प्रयोग करते हैं। इस मीटर का आविष्कार एक इटैलियन वैज्ञानिक वेञ्चुरी ने किया था। इस मीटर में एक पाइप फ़िट किया होता है जो बीच में डमरू की तरह सँकरा हो जाता है। पानी जब इस पाइप में से होकर गुज़रता है तो सँकरे स्थल पर पहुँचने पर इसकी रफ़्तार तेज़ हो जाती है, फलस्वरूप इस स्थल पर पाइप की दीवालों पर पानी का दबाव उतना नहीं पड़ता जितना पाइप के अन्य स्थलों पर। अतः पतली नली और बैरोमीटर के सिद्धान्त पर बने हुए यंत्रों की सहायता से पाइप की दीवाल पर पानी का दबाव दो जगहों पर नापते हैं—एक उस जगह जहाँ से पाइप सँकरा होना आरम्भ होता है और एक उस स्थान पर जहाँ पाइप सबसे अधिक सँकरा है। दोनों स्थान के दबाव के अन्तर को मालूम कर लेने पर गणित के कुछ सरल सिद्धान्तों की सहायता से जल के प्रवाह के वेग का पता लगा लेते हैं। पाइप में जिस स्थल पर दबाव नापना होता है, वहाँ पाइप की परिधि में चारों ओर नन्हें-नन्हें सूराख़ कर देते हैं। ये सूराख़ एक कालर से एयरटाइट ढुके रहते हैं—इस कालर का सम्बन्ध दबाव नापनेवाली नली से रहता है। इस मीटर में भी दोनों जगह के दबाव घूमते हुए बेलनों पर अपने आप अंकित होते रहते हैं।

वाटर-वर्क्स से शहर के अन्दर पानी ले जाने के लिए पाइप बिछाने में भी सावधानी रखनी पड़ती है। ज़मीन की सतह से ३ फ़ीट की गहराई पर पाइप बिछाते हैं ताकि सड़क पर चलनेवाली
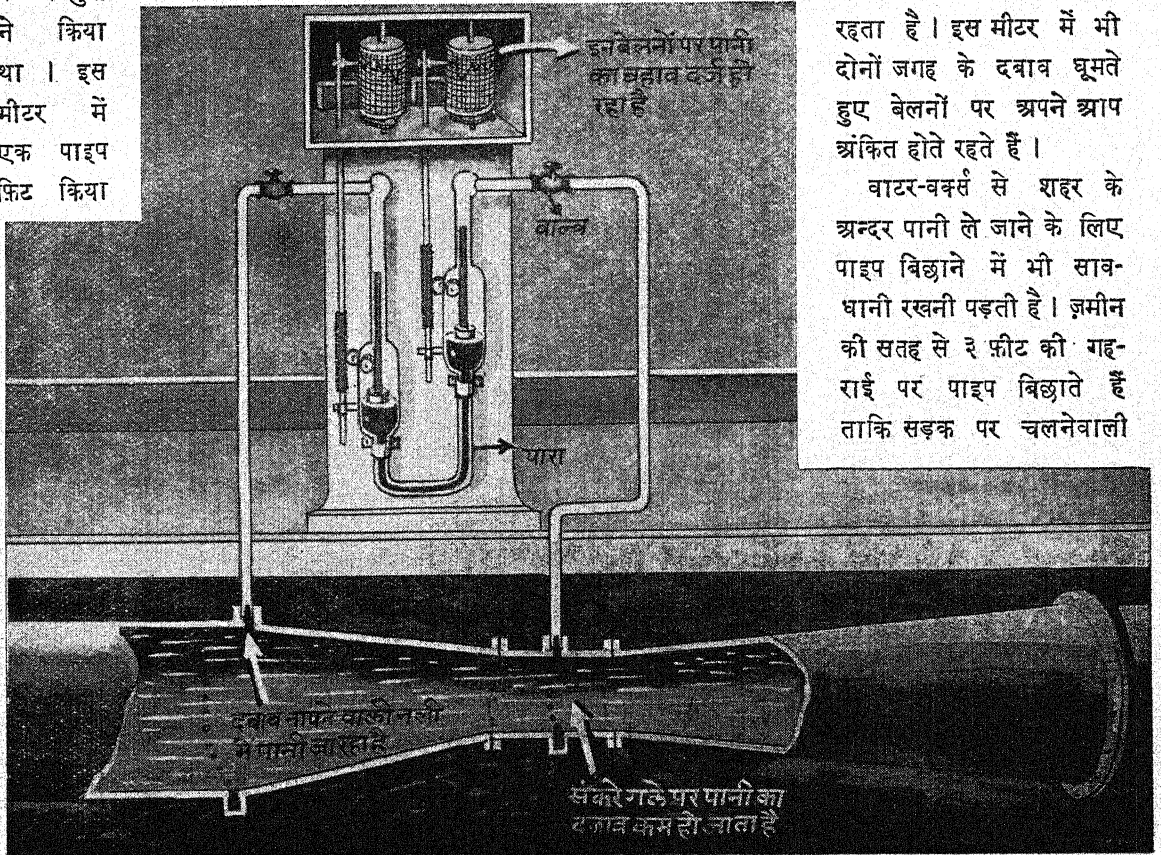
वेञ्चुरी मीटर

इस यंत्र से पानी का दबाव नापकर यह मालूम कर लेते हैं कि कितना पानी इसमें से होकर गुज़रा

सवारियों, मोटर, ताँगा, लारी आदि के बोझ से पाइप को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। जाड़े के दिनों में ठण्डे देशों में पानी जमकर बर्फ़ बन जाती है। किन्तु ज़मीन के अन्दर गड़े हुए पाइप में ठण्ड का प्रभाव नहीं पड़ता अतः पाइप के अन्दर का पानी जमकर बर्फ़ नहीं बनने पाता। मोर्चा से बचाने के लिए पाइप को खनिज तैल और तारकोल के गर्म घोल में डुबा लेते हैं—तारकोल की एक हलकी सी परत पाइप की सतह पर चढ़ जाती है।

वाटर-वर्क्स की विशालकाय मशीनें

छोटे-छोटे शहरों में आजकल भी बचत के लिए दिन में बँधे हुए समय पर ही पानी सप्लाई किया जाता है। अतः लोग अपने घरों में छोटे-छोटे हौज़ से बना लेते हैं कि नल में जिस वक़्त पानी न आता हो, उस समय वे हौज़ में इकट्ठे हुए पानी को काम में लाएँगे। किंतु इस प्रकार इकट्ठा किया गया पानी स्वास्थ्य की दृष्टि से शीघ्र ही दूषित हो जाता है—नियमित रूप से हौज़ को साफ़ करते रहने पर भी पानी के दूषित होने की सम्भावना दूर नहीं हो सकती। इस रीति से पानी सप्लाई करने में एक और दोष है। जिस समय नल में पानी नहीं रहता, बाहर की अनेक दूषित और विषैली गैसें पाइप के अन्दर प्रवेश कर जाती हैं। नल में पानी का आना जारी होने पर गैसें पानी में घुल जाती हैं। निस्सन्देह ऐसा जल स्वास्थ्यप्रद नहीं रह जाता। अतः अब सभी स्थानों पर इञ्जीनियर इसी बात का प्रयत्न करता है कि वाटर-वर्क्स से शहर को जानेवाले पाइप में हर वक़्त भरपूर जल भरा रहे। ऐसा करने से पाइप के अन्दर बाहर से दूषित गैसों के प्रवेश करने की आशंका नहीं रह जाती। २४ घण्टे की निरन्तर सप्लाई के कारण नगर-निवासियों को भी काफ़ी सुविधा रहती है, तथा फ़ायर ब्रिगेड सर्विस को भी आवश्यकता पड़ने पर किसी भी क्षण पानी की प्रबल धार प्रचुर मात्रा में मिल सकती है।
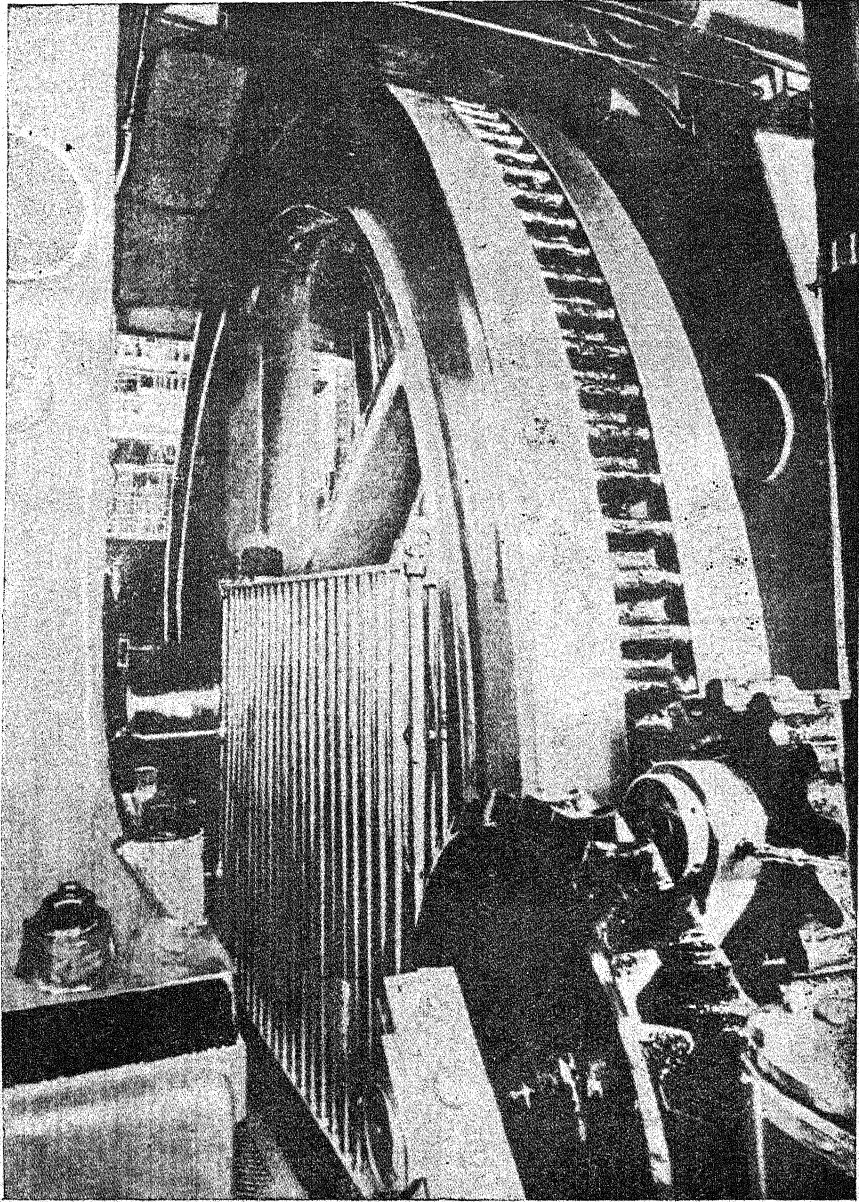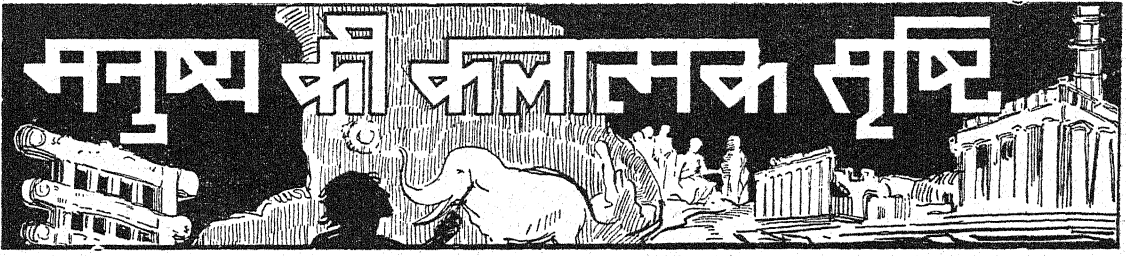
जापान की कला—वास्तु-कला तथा मूर्त्ति-निर्माण-कला (१)

पिछले अंकों में हमने चीन की कला का परिचय प्राप्त किया है—अब हम उसके पड़ोसी राष्ट्र जापान पर आते हैं। प्रस्तुत लेख में जापानी कला के विकास की पृष्ठभूमि की विस्तृत व्याख्या की गयी है। साथ ही जापान की वास्तु-कला और मूर्त्ति-निर्माण-कला पर प्रकाश डालने का उद्योग किया गया है।

जापान हो आनेवाले प्रत्येक यात्री ने इस देश के उत्कृष्ट प्राकृतिक सौन्दर्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। यद्यपि नन्हे द्वीपसमूहों का यह देश साइज़ में छोटा है, किन्तु साथ ही यह अत्यन्त ही साफ़-सुथरा, सुघड़ और क़रीने से बसा हुआ मुल्क है। इसकी देख-रेख में भी सौन्दर्य और सुघड़ता का पूरा ध्यान रखा जाता है। सुविख्यात जापानी लेखक तथा कलाकार ओकाकुरा काकूज़ो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दी आइडियल्स आव दी ईस्ट' (The Ideals of the East) में जापान के सौन्दर्य तथा जापानी कला पर उसके प्रभाव के बारे में भावावेश के साथ लिखा है:—

"धान के लहलहाते हुए खेतों के पानी, द्वीपसमूह का ऊँचा-नीचा धरातल जो मौलिकता के प्रतिपादन के लिए विशेष उपयुक्त है, इसकी रजत-वायु की कम्पन, हलकी कोमल ऋतुओं का नियमित चक्र; पर्वतों की सीढ़ीनुमा पृष्ठभूमि पर नीलम की सुरम्य चादर, चीड़ के वृक्षों से परिवेष्ठित तट पर लहराता हुआ महासागर, इन सभी विभूतियों के अन्दर से उस कोमल सादगी तथा रोमान्टिक विशुद्धता का प्रादुर्भाव हुआ है जो जापान की कला की आत्मा को कोमलता का पुट देती हैं। ये ही विभूतियाँ जापान की कला को चाइनीज़ कला की एकरसता से बचाती हैं, और कदाचित् इन्हीं विभूतियों के कारण भारतीय कला का चटकीलापन तथा भड़कीलापन जापान के कलाक्षेत्र को दूषित नहीं कर पाया है। सफ़ाई और सुघड़ता के प्रति जापानी कलाकारों का अभिन्न अनुराग जो कभी-कभी तड़क-भड़क के बिल्कुल विपरीत बैठता है, किन्तु जिसने हमारे उद्योग-व्यवसाय सम्बन्धी तथा ललित कला के सौन्दर्य को निखारने में सबसे अधिक सहयोग दिया है, कदाचित् अन्यत्र कहीं भी नहीं देखने को मिलता।"

जापान की प्रत्येक कलाकौशल के पीछे यदि अन्य कोई उच्चतर आदर्श नहीं हुआ तो कम-से-कम सुसंगठित सफ़ाई, सुघड़ता तथा अनुपम प्रतिपादन तो उसमें निहित आपको मिलेंगे ही।

निश्चय रूप से किसी को नहीं मालूम कि यामाटो (जापान का जापानी भाषा का नाम) की जाति का कैसे जन्म हुआ। सैनिक सतर्कता तथा शौर्य्य; सृजनशक्ति, बाह्य गुणों की ग्राहकता तथा अपनी निज की मौलिकता का पुट देकर उनका संयोजन, राष्ट्रीय विकास के सम्पूर्ण काल में इस जाति की ये ही प्रमुख विशेषताएँ रही हैं। अपने इतिहास के लम्बे काल में अपनी इस गुणग्राहकता तथा उनके संयोजन के बल पर जापान ने अपने पड़ोसी देशों से कला, धर्म तथा सभ्यता के क्षेत्र में अनेक उत्तम बातें लेकर उनसे बेहद लाभ उठाया है। इसके प्रतिकूल अनेक राष्ट्र ऐसे हैं जो अपनी सभ्यता को बाह्य प्रभावों से एकदम अछूता रखते हैं, अनेक ऐसे हैं जो अपनी बातों को दूसरों को दे सकते हैं किन्तु दूसरों के गुणों को ग्रहण करना नहीं जानते और कुछ ऐसे भी हैं जो अपनी सभ्यता को सर्वश्रेष्ठ मानकर इस बात की ज़रूरत ही नहीं महसूस करते कि वे अन्य राष्ट्रों के गुणों को अपनाएँ। जापान ने सदैव मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। जिस वक़्त जापान को वास्तव में अपने पुनरुत्थान के लिए धार्मिक प्रोत्साहन की ज़रूरत थी उसने विनम्रता के साथ भारत और चीन की सांस्कृतिक विभूतियों को अपनाया। उसने इन सांस्कृतिक विभूतियों को कृपण व्यक्तियों की तरह एक

दम जमा नहीं कर लिया है वरन् उसने इनसे पूरा लाभ उठाया है और अपनी राष्ट्रीय संस्कृति में इन विभूतियों को उसने पूर्णतया जज़्ब भी कर लिया है, उनकी सांस्कृतिक विरासत का ये अंग बन गई हैं। कला, विज्ञान, और धर्म के क्षेत्र में जापान ने सदैव दूसरों से गुर हासिल किये हैं, किन्तु उसने इन्हें सर्वथा नवीन रूप देकर इन्हें अत्यधिक फलप्रद और कारामद बनाया है। जापान के अनेक कला तथा धर्म सम्बन्धी आन्दोलनों के विकास के पिछले पन्नों को पलटने पर हम देखते हैं कि इनके लिए अधिकांश प्रोत्साहन चीन और कोरिया में से होकर बुद्ध भारत से आये थे। जापानी कला के प्रारम्भिक इतिहास में अनेक बातें ऐसी मिलती हैं जो विषय तथा कला की प्रतिपादन रीति, दोनों ही में अजन्ता की कला के साथ घना सादृश्य रखती हैं। जापान की प्रारम्भिक हस्तकला तथा बर्त्तनों की चित्रकारी की अनेक विशेषताएँ भी चीन की कला से मेल खाती हैं। किन्तु इसके यह कदापि अर्थ नहीं लगाये जा सकते कि जापानी कला निरे अनुकरण का फल है—इससे तो केवल यह पता चलता है कि शुरू में पानी किधर से किधर को बहा।

कलाक्षेत्र के विज्ञ आलोचकों ने जापानी कला के इतिहास को निम्नलिखित तालिका के अनुसार विभिन्न कालों में विभाजित किया है:—

सुइको काल	५५२—६४५	ई० सन्
हाकुहो काल	६४५—७०६	ई० सन्
टेम्पयो काल	७०६—७६३	ई० सन्
जोगन काल	७६३—६००	ई० सन्
फूजिवारा काल	६००—११६०	ई० सन्
कामाकुरा काल	११६०—१३८३	ई० सन्
अशीकागा काल	१३८३—१६०३	ई० सन्
टोकुगावा काल	१६०३—१८६८	ई० सन्

चीन से जापान में बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव पहली बार सुइको काल में हुआ—इस समय इसका रूप, रहस्य और आध्यात्मिकता के घने आवरण से ढका था—यथार्थवाद से यह कहीं दूर था। बौद्ध धर्म की द्वितीय लहर ताँग काल के चीन से जापान में पहुँची और यह अपने साथ शानशौक़त और तड़क-भड़क भी ले आयी, जिसका आभास हमें ध्यानावस्थित बुद्ध तथा सौम्य और सानुकंप बोधिसत्व में मिलता है। इस कला का उच्च आदर्शवाद ताँग काल के अन्तिम दिनों में फीका पड़ने लगा, और इसका स्थान मानवसमाज की यथार्थवादिता ने लिया। तीसरी लहर सुंग काल के चीन से कमाकुरा और आशिकाजा के दिनों में ज़िय बौद्ध धर्म के रूप में आई, इस लहर के अन्दर संस्कार और अनुष्ठान (ritual) के प्रति घोर विद्रोह की भावना कूट-कूटकर भरी थी—इसमें अखिल ब्रह्माण्ड की प्रेरक शक्ति का ध्यान और मनन द्वारा ज्ञानप्राप्ति की भावना निहित थी। इसे हम जापानी कला का स्वर्णयुग कह सकते हैं। विशेषतया चित्रकला तथा ललित कलाएँ तो इन दिनों विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं।

जिस प्रकार मध्यकालीन युरुप और भारत में चर्च और मठों में कला के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित रहता था, ठीक उसी प्रकार इस काल के जापान में भी कलाप्रेमी मठाधीशों की नई जाति उत्पन्न हो गई थी। आरम्भ में उनके कला-सम्बन्धी सभी कार्य धार्मिक दृष्टिकोण से परिवेष्ठित होते थे, किन्तु शनैः शनैः मानव-संस्कृति के क्षेत्र के विस्तार के संग भौतिक विषयों का भी समावेश जापानी कला की दुनिया में होने लगा।

बारहवीं और सोलहवीं शताब्दी के दर्मियान जापान आन्तरिक कलह से उत्पीड़ित रहा। विशेषतया तैरा और मिनामोटो वंशजों के बीच ख़ूब गुत्थमगुत्था रही। इनमें से प्रत्येक अपने ही पदाधिकारी को राजसिंहासन पर बिठाना चाहता था। इस गृहयुद्ध ने जापानी साहित्य की कथाओं को योस्पितसुने नाम का वीर नायक प्रदान किया। जापानी साहित्य में योस्पितसुने को वही स्थान प्राप्त है जो अंग्रेज़ी साहित्य में बेअर्ड को प्राप्त है।

१३वीं शताब्दी में जापान पर तातारी नाविक बेड़े ने आक्रमण किया किन्तु दैवी ने जापान की रक्षा की। आकस्मिक तूफ़ान के चपेटे में आकर समूचा नाविक बेड़ा जलमग्न हो गया। इस भयानक काण्ड की कहानी सुनानेवाले केवल तीन तातारी बचे थे! १४वीं शताब्दी में आशिकागा काल के युद्ध ने जापान में रक्त की नदियाँ फिर बहायीं। लम्बे काल की इस युद्धाग्नि ने जापानी राष्ट्र को तपाकर खरा कर दिया; फलस्वरूप जापानी राष्ट्र के दृढ़तर और परुष गुणों के विकास के लिए इसने उपयुक्त अवसर प्रदान किया। जापान में सुमाराई नाम की एक योद्धा-जाति का निर्माण हुआ जिसके पृष्ठपोषक जापान के राजेमहराजे थे। ये योद्धागण इन्हीं के प्रति वफ़ादारी का दम भरते। योद्धाओं का कौल "बुशीडो"—कर्त्तव्य और शौर्य्य का प्रतीक—समूचे राष्ट्र का आदर्श मापदण्ड बन गया। क्योंकि जापान के

योद्धाओं की वीर गाथाएँ शौर्य्य और साहस की कहानियों से भरी पड़ी हैं। जापानी गाँवों की प्रत्येक झोपड़ियों में आज दिन भी ये गाथाएँ आपको सुनने को मिलेंगी और जापान के साहित्य और कला की दुनिया में तो ये गाथाएँ सैकड़ों बार दुहराई जा चुकी हैं।

उपद्रव के इन दिनों में भी मरुस्थल के नख़लिस्तानों की तरह बौद्ध मठों के वातावरण शान्त और अछूते बने रहे। इन मठों की ऊँची चहारदीवारियों के अन्दर जापान की ललित कलाओं की विकासगति में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ी किन्तु इन चहारदीवारियों के बाहर युद्ध-सम्बन्धी कलाएँ वाह्य जगत् की उथल-पुथल से ख़ूब प्रभावित हुईं। कृपाण और तलवार निर्माण करनेवाले कारीगरों की गणना अग्रगण्य कलाकारों में इन दिनों होने लगी थी।

१६वीं शताब्दी में शनैः-शनैः शासन-पद्धति का केन्द्रीकरण होने लग गया। मिकैडोने जो अभी तक शोगन्स के हाथ की कठपुतली बना हुआ था, अब स्वयं अपने हाथ में धीरे-धीरे शासन-सूत्र की डोरियाँ एकत्रित करनी शुरू कीं। अभी तक राज्य की वास्तविक शक्ति शोगन्स के हाथों में थी जो राज्य की हुकूमत पर अपना पूरा अधिकार रखता था। स्थानीय डेमियो भी अपने-अपने प्रान्तों में एक प्रकार से पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे। तोकुगोवा शोगन्स ख़ान्दान के सर्वप्रथम व्यक्ति आयेयासु के हाथ में १६०३ में राज्यशक्ति आयी। अपनी अदम्य योग्यता के बल पर इसने अपने पूर्वगामी नोबूनागा तथा हिदे-योशी द्वारा आरम्भ किये हुए सामन्तों के दमन का कार्य्य पूरा कर दिखाया। उद्दण्ड सामन्तों के दाँत तोड़कर उसने उन्हें मजबूर किया कि वे मिकाडो का आधिपत्य स्वीकार करें। उसकी विवेकपूर्ण और सतर्क शासन-नीति के फलस्वरूप एक लम्बी अवधि तक जापान में अमन और शान्ति विराजती रही। अगले ढाई सौ वर्षों में युद्ध और कलह से मुक्त जापान में कला और उद्योगधन्धों का ख़ूब विकास हुआ।

तोकुगवा काल जापान की कला के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखता है। इस काल में जापान के अनेक कलाकौशल अचानक विकसित हुए। विकास की इस चरम सीमा को न कभी पहले जापानी कला पहुँच पायी थी, और न बाद में कभी पहुँची। देश का अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण वातावरण तथा सुदृढ़ केन्द्रीय गवर्नमेण्ट का प्रोत्साहन, इन दोनों ही अनुकूल परिस्थितियों ने कलाकारों तथा कारीगरों को उन्नति करने के लिए प्रचुर अवसर प्रदान किया। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार भारतीय इतिहास की १६वीं और १७वीं शताब्दी में अकबर और जहाँगीर के समय में भारतीय कलाकारों और कारीगरों को समुचित मात्रा में प्रोत्साहन मिला था।

राष्ट्र की शक्तियाँ जो अभी तक विनष्टकारी प्रवृत्तियों में लगी हुई थीं, अब रचनात्मक क्षेत्र की ओर प्रेरित की गईं। प्रान्तों के सामन्त-डेमियो स्थानीय कला के विकास के लिए मनोयोगपूर्वक साधन जुटाते और प्रति वर्ष अपने यहाँ की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक कृतियों के नमूने शोगन्स और मिकैडो के दरबार में भेजते। राजदरबार में कला की सर्वोत्तम कृतियों के नमूने भेजने में विभिन्न प्रान्तों में होड़-सी लगती कि किस प्रान्त की कला उत्कृष्टतम है। स्थानीय डेमियो ने अपने

नारा के चूगूजी मन्दिर में मैत्रेय की काष्ठ प्रतिमा

प्रान्तों में प्रायः मिट्टी के बर्त्तन बनाने के कारख़ाने और वर्कशाप निरे अपने इस्तेमाल के लिए स्थापित किये थे। इन कारख़ानों में पोर्सलीन (चीनी मिट्टी) के अत्यन्त सुरुचिपूर्ण बर्त्तन तैयार किये जाते थे। डेमियो के उदारतापूर्ण संरक्षण में धातु की खुदाई, पच्चीकारी, लकड़ी की खुदाई आदि में संलग्न कारीगरों ने भी जीविका के प्रश्न की ओर से निश्चिन्त होकर स्वतंत्रतापूर्वक अपने पेशे की उन्नति की। इन कलाकारों के सामने जल्दबाज़ी की कोई समस्या न थी; न सामूहिक उत्पादन की फ़िक्र और न फ़ैशन या जनता की रुचि का प्रतिबन्ध। कलाकार अपनी निज की क्रियात्मक प्रवृत्तियों की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपनी ही स्वतंत्र गति से अपनी कृतियों का सृजन करते। इन कृतियों में इनकी सर्वश्रेष्ठ विभूतियाँ निहित होतीं, इनमें वे अपनी आत्मा पिरो दिया करते। कभी-कभी अकेली एक चीज़ के निर्माण में उन्हें बरसों लग जाते।

कालान्तर में प्राचीन कला की सादगी, मौलिकता और ताज़गी का बहुत कुछ अंश विलुप्त हो गया। प्रत्येक राष्ट्र की कला के इतिहास में क्रियात्मक प्रवृत्तियों के विकास के ज्वारभाटे आया करते हैं और इन्हीं के साथ युग की रवानी के अनुसार कला का उत्थान तथा पतन भी हुआ करता है।

राष्ट्रीय प्रोत्साहन के हट जाने पर भी कला के सृजन का कार्य बहुत-कुछ पूर्व-सञ्चित शक्ति के आधार पर कुछ दिनों तक चलता रहता है—किन्तु ऐसी कला में ज़िन्दादिली नहीं रहती—इसमें पूर्व अर्जित विभूतियाँ ही बनाव-श्रृंगार के साथ नवीन रूप में बार-बार प्रकट होती रहती हैं। ऐसी कला में वास्तविक क्रियात्मक अनुभूति की जगह बहुत कुछ पुरानी बातों के ही संग बाजीगिरी खेली जाती है।

शनैः-शनैः शक्तिशाली केन्द्रीय गवर्नमेण्ट के अवसान का आरम्भ हुआ। फलस्वरूप जनतंत्रवाद के उत्थान के इस ज़माने में वैयक्तिक निजी प्रवृत्तियों के प्रभाव से ओत-प्रोत कृतियाँ हेय की दृष्टि से देखी जाने लगीं। जापान की कला चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी, अब जनसाधारण के बीच उसे पहुँचाना था। जापानी कला में इस जनतंत्रवाद के समावेश का आभास हमें चित्रकारी के क्षेत्र में विशेष रूप से देखने को मिलता है। जापानी कला सभ्यता के दम भरनेवाले मुट्ठी भर धनिकों की दुनिया के सातवें आसमान से उतरकर ज़मीन पर आई ताकि जनसाधारण को अपनी कलात्मक तृष्णा को शान्त करने का अवसर मिले। यह सच है कि स्वयं जापानी लोग चित्रकारी की गणना कला में नहीं करते, किन्तु यह भी तथ्यपूर्ण है कि चित्रकारी के बहाने ही जापानी कला ने संसार के अन्य देशों में प्रवेश पाया है।

दुर्भाग्यवश पाश्चात्य प्रतिपादन-रीति और आदर्श के संसर्ग, ऐसा प्रतीत होता है, जापानी कला के लिए घातक साबित हुए। युरूपीय आदर्शधारा के संसर्ग ने प्राचीन जापानी कला के सौन्दर्य और लालित्य का सत्यानास कर दिया। अनीलीन (aniline) के रासायनिक रंग ने जापान के चित्रों के रंग के कोमल शेड को चौपट कर दिया है। धातुओं की नक़्क़ाशी, लकड़ी के काम और वार्निश की चित्रकारी के क्षेत्र में नई जापानी कला प्राचीन कला के मुक़ाबले में कहीं निकृष्ट उतरती है। दुनिया के बाज़ार में गुण की नहीं, वरन् सस्ते माल की माँग थी। जापानी तो अपने को हर क़िस्म की परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने में सिद्धहस्त होते ही हैं, बस उन्होंने प्राचीन कला की सुन्दर कृतियों की सस्ती नक़लें सैकड़ों की संख्या में तैयार करनी शुरू कर दिया।

आधुनिक व्यवसायिक दुनिया को कला से वास्ता ही क्या? और इस सम्बन्ध में तो ऐसा लगता है कि उसने कलाकारों को भी पेशेवर व्यापारी के रूप में परिणत कर दिया।

"जापान अब एक अप-टू-डेट राष्ट्र है, सभ्यता में, तौर तरीक़े में, और आदर्श में, पूर्ण रूप से पाश्चात्य। निकट भविष्य में जापान एक प्रथमवर्ण का व्यवसायिक राष्ट्र बनने जा रहा है। सम्भव है कि जैसा इसने पहले भी किया है, यह इन नवीन संसर्गों को, अपनी मौलिकता पर लेशमात्र भी आँच न आने देकर अपने अन्दर पूर्ण रूप से जज़्ब कर ले। और यह भी सम्भव है कि फ़ोनिक्स की तरह प्राचीन कला के अस्थि-अवशेष से उतनी ही उज्ज्वल एक नूतन कला की उत्पत्ति फिर हो जाय। किन्तु इसके प्रतिकूल कुछ लोगों का कहना है कि कला, संसार के यौवनपूर्ण ज़माने की चीज़ है और विज्ञान के इस युग का कलाकार कभी भी प्राचीन युग के संस्कारों में अपने को आवेष्ठित नहीं रख सकता। यौवन की ज़िन्दादिली जो औरों में मुर्झाकर विनष्टप्राय हो गयी है, उसे अपने अन्दर हरी-भरी और जागरित रखना ही पड़ेगा।"

किसी देश की कला और संस्कृति को ठीक-ठीक समझने के लिए ही वहाँ की जलवायु, प्राकृतिक साधन,
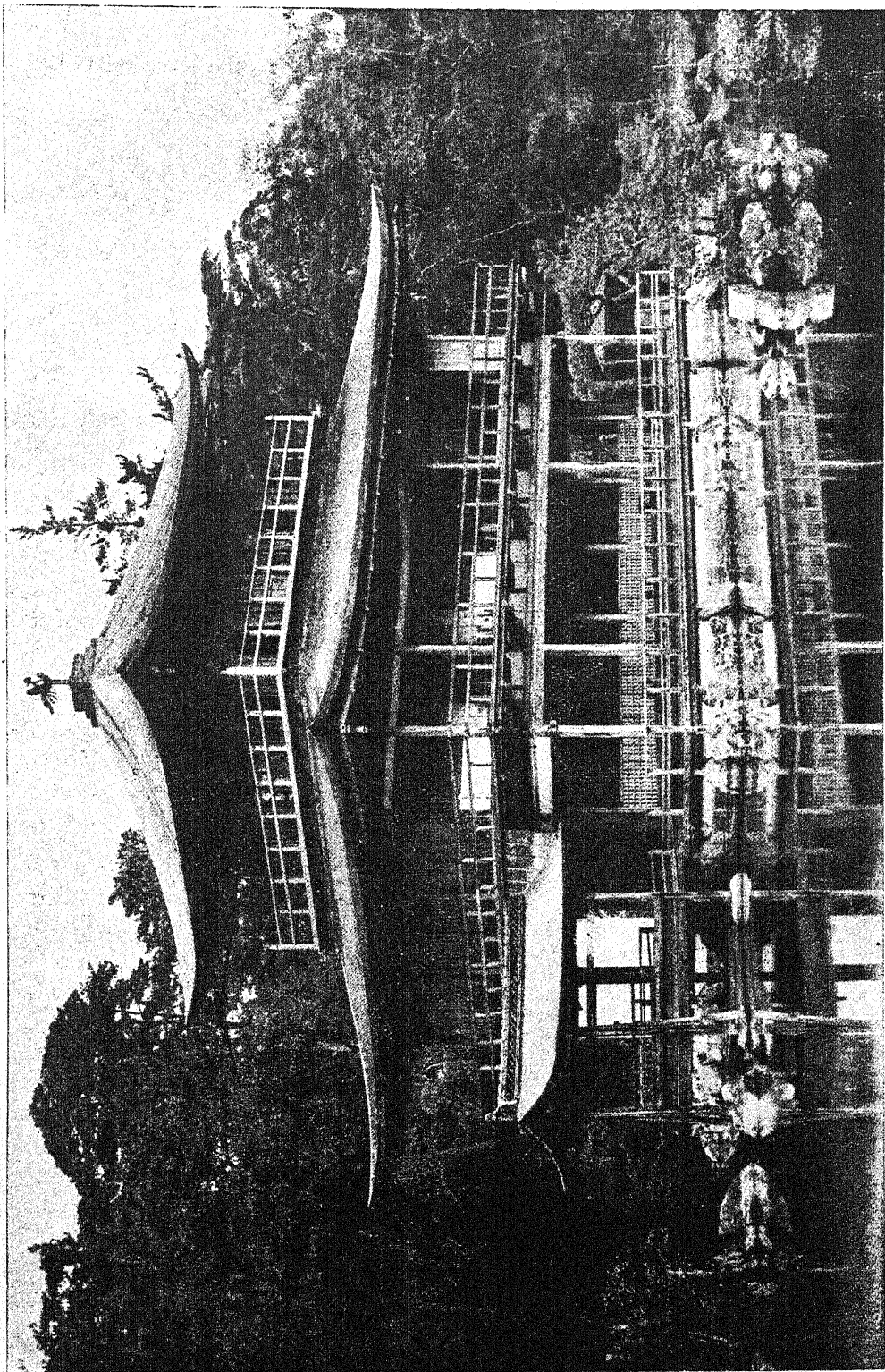
कियूतो के समीप रोकूयूजी मन्दिर का स्वर्ण मंडप
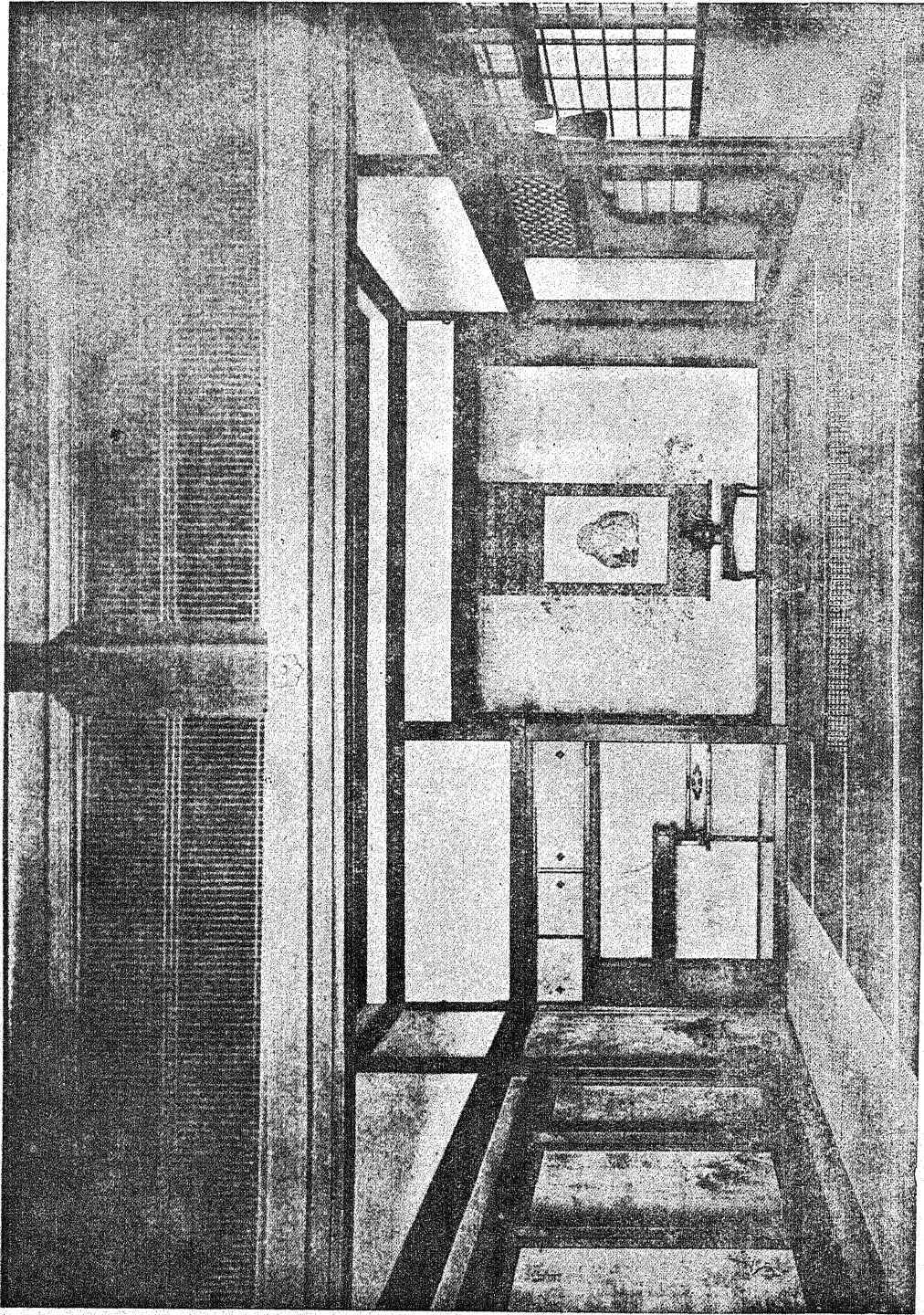
कियूतो के समीप दैगोजी मन्दिर का प्रार्थना भवन

रहन-सहन के तरीक़े और वहाँ के निवासियों के स्व-भाव का अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि दूसरे के मापदण्ड से किसी देश की कला का वास्तविक मूल्य कभी आँका नहीं जा सकता। जापान, सभी जानते हैं, एक छोटा सा मुल्क है जहाँ आये दिन भूचाल आया करते हैं। छोटा मुल्क होने के कारण इसके प्राकृतिक साधन भी सीमित हैं अतः थोड़े से ही बहुत काम निकालना जापानियों का विशेष गुण है। सूक्ष्म से वृहत्तर की अनुभूति की भावना जापानी कला का विशेष अंग है। जापानी चित्र देखने में छोटे होते हैं, किन्तु उनके अन्दर प्रेरणा और महानता अनि-वार्यतः निहित होती है, कविताएँ छोटी, किन्तु प्रेरणा और महानता से भरपूर, नक़्क़ाशी और पच्ची-कारी भी साइज़ में छोटी किन्तु प्रेरणा और महानता से भरी हुई। यहाँ तक कि इमारतें भी छोटी किन्तु पूर्णतया साफ़ सुथरी और चित्ताकर्षक होती हैं। यहाँ इस बात का कभी प्रयत्न नहीं किया जाता कि गगन-चुम्बी गिर्जे खड़े किये जायँ, जो माइकेल एन्जेलो की भाँति वृहत्काय भित्तिचित्रों से, या वेरोचियो के अश्वारोही वीर-बाँकुड़ों के चित्र अथवा रुबन्स या गस्ताव डाट के लम्बे चौड़े या पर्देवाले चित्रों से सजाए गए हों।

नारा के होरियूजी मन्दिर में बोधिसत्व की काष्ठ प्रतिमाएँ

एक ऐसे देश में जिसे आये दिन भूचालों का सामना करना पड़ता हो, इमारतें हलकी ही बनायी जा सकती हैं। न तो विशालकाय भवनों की यहाँ गुंजाइश है, और न बड़े पैमाने पर उसके बनाव-शृंगार की। जापान के इन तमाम प्राकृतिक प्रतिबन्धों ने जापानी कला को बहुत-कुछ प्रभावित किया है। यह सभी को मालूम है कि जापानी कला ने किस प्रकार इन प्रतिबन्धों पर विजय प्राप्त किया है। हलकी और छोटी इमारतों में रहने के अर्थ होते हैं प्रकृति के सौन्दर्य्य के सम्पर्क में रहना। जापानियों की यह एक प्रधान विशे-षता है कि वे प्रकृति और कला के सौन्दर्य्य के पारखी होते हैं। सड़कों पर यात्रियों के लिए नोटिसें इस आ-शय की लगी रहती हैं कि अमुक स्थान से प्रकृति के सौन्दर्य्य का निरीक्षण बख़ूबी किया जा सकता है। कला की अनुभूति रखने-वाली माताएँ चेरी फूलोत्सव के अवसर पर अपने बच्चों को शहर के पार्क में ले जाती हैं ताकि बच्चे के मस्तिष्क में फूलों के सौन्दर्य्य और उनकी मनोहरता अभी से बैठ जायँ।

सौन्दर्योपासना के अतिरिक्त वे अपनी कृतियों में सौंदर्य की अभिव्यक्ति करना भी जानते हैं। क्योंकि जापान में लिखना सीखने में भी चित्रकारी की ट्रेनिंग मिल जाती है। युरूप के कलाकार की यह कोशिश होती है कि उसकी कृतियों में पूरे ब्योरे के साथ यथार्थ (realism) की अभिव्यक्ति की जाय, बिना इस विस्तृत अभिव्यक्ति के अपनी कृति को वह अधूरी समझता है, किन्तु संस्कृति की

मंज़िल में आगे बढ़े हुए जापानी कलाकार के लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह अपनी कृतियों में यथार्थ की ओर संकेत कर दे या एकाध सुझाव दे दे। कदाचित् जापानी कला का यह विशेष गुण है कि इसमें अनेक बातें बिना व्यक्त किये ही छोड़ दी जाती हैं, क्योंकि पूर्ण ब्योरे की अभिव्यक्ति वाली यह निकृष्टतर कला जिसका पाश्चात्य देशों में पग-पग पर लिहाज़ रखना पड़ता है, जापान में कहीं नहीं देखने को मिलती।

"अवश्य, पाश्चात्य कला के तौर-तरीक़े सुदूर पूर्व की कला के अनेक तौर-तरीक़ों से भिन्न हैं, किन्तु ये विभिन्नताएँ इतनी गहरी नहीं हैं। प्रत्येक कला की नींव परम्परा पर खड़ी होती है, इसी की अभिव्यक्ति कलात्मक कृतियों के अन्दर की जाती है। अतः जापानी कला की आत्मा को समझने के लिए हमें जापानी परम्परा को स्वीकार करना होगा। हमें जापानी कला की भाषा समझनी होगी। हमें उन्हीं की आँखों से उनकी कृतियों को देखना होगा।

जापानी कला के अनेक समालोचकों ने यही ग़लती की है, उनके दृष्टिकोण में सहानुभूति और मैत्रीभाव की कमी होने के कारण वे अपनी कला को ठीक-ठीक समझ न पाये। उन्होंने उसके उलटे अर्थ लगाए। लालित्यपूर्ण सुन्दर बौद्ध मूर्त्तियों को शरीरविज्ञान के दृष्टिकोण से परखने की कोशिश की जाती है, और स्वप्निल आभा से आच्छादित जापानी प्राकृतिक दृश्य के चित्रों के गुण-दोष की परख पर्सपेक्टिव (Perspective) के दृष्टिकोण से की जाती है। भौतिकवादी आदर्शवाद को अपनी भौतिक तराज़ू पर तौलता है और उसे निकृष्ट ठहराता है।"

—(स्टीवर्टडिक)

जापान के घरों में दीवालें महज़ काग़ज़ के पर्दे होते हैं। छत का सारा बोझ किनारे की चार बल्लियों पर टिका होता है, जो स्वयं भूमि के अन्दर नहीं गड़ी होती हैं—वे पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों पर खड़ी रहती हैं। भवन-निर्माण की इस सादगी और हलकेपन ने जापान की कला को एक विशिष्ट मार्ग में प्रवाहित कराया है। जापानी तसवीरों में भारी-भरकम चौकठ की जगह रेशमी फ़ीते लगे रहते हैं, ताकि जब तसवीर टँगी न हो तो नक़्शे की भाँति इसे लपेटकर अलग रखा जा सके। व्यवहारिक कला-कौशल का क्षेत्र भी इसी कारण सीमित है, बृहत्काय और महत्त्वपूर्ण कृतियाँ मन्दिरों और मठों के अन्दर रखी जाती हैं। घर के अन्दर इनके लिए स्थान नहीं है। घर के अन्दर फर्निचर की मात्रा भी न्यूनतम रक्खी जाती है। बैठने के लिए एकाध चटाइयाँ, क्योंकि जापानी लोग कुर्सियों का प्रयोग नहीं करते, एक या दो काग़ज़ के पर्दे, ताकि इच्छानुसार घर को अलग-अलग कमरों में विभाजित कर सकें, लकड़ी के कोयले की एक अँगीठी, भोजन तैयार करने के लिए कुछ बर्त्तन, कुछ नक़्क़ाशी और पच्चीकारी किये हुए बर्त्तन, पंखे, दर्पण और अन्य सजावट की छोटी-छोटी चीज़ें, पहनने के कपड़े, अस्त्र और कुछ निजी इस्तेमाल की चीज़ें, बस जापानी घरों में ये ही चीज़ें मिलती हैं। अतः जापानी कारीगरों का क्षेत्र इन्हीं तक सीमित रहता है। जापान की इमारतों में वर्साई या फ़तेहपुर सीकरी की इमारतों की भाँति गहरी और भारीभरकम सजावट की भरमार न मिलेगी। सूक्ष्मता और सादगी इनका आदर्श है, किन्तु जो कुछ थोड़ी-बहुत सजावट वहाँ होगी वह लालित्य और सौंदर्य की दृष्टि से अनुपम।

वास्तु-निर्माण-कला (भवन-निर्माण) के विकास का सर्वप्रथम आभास हमें जापान के धर्म-मन्दिरों में मिलता है। बौद्ध धर्म के अवतरण के पहले जापान के लोग एक रहस्यमय धर्म 'शिन्टोइज़्म' में विश्वास करते थे। यद्यपि जापान में आज दिन भी कई एक शिन्टो मन्दिर मौजूद हैं, ख़ासकर इदज़ूमो और इजे के मन्दिर, किन्तु उनका काल निर्धारित करना सम्भव नहीं है। जापान में बौद्ध धर्म का आविर्भाव सबसे पहले ५२२ ई० में सम्राट् केताई के ज़माने में हुआ। चीन के हियांग वंश के शिव-तत्-सुत नामक राजा के ज़रिए बौद्ध धर्म का जापान में प्रवेश हुआ था (ध्यान दीजिए चीन के इस राजा का एकदम हिन्दू नाम है)। बौद्ध धर्म के साथ बौद्ध कला का भी जापान के अन्दर प्रवेश हुआ। अपने जन्मस्थान भारत से कारवानों के रास्ते से यह कला चीनी तुर्किस्तान, चीन, कोरिया और जापान में पहुँची। नारा के सुप्रसिद्ध होरियूजी मन्दिर के भित्तिचित्रों में अजन्ता-कला की स्पष्ट छाप देखने को मिलती है। चित्र की देव-मूर्त्तियों में अधिकांश बुद्ध भगवान् और बोधिसत्व की हैं, उदाहरणस्वरूप अमिताभा, रत्नसम्भव, भैषगागुरु, मैत्रेय, अक्षुम्य, अवालोकितस्वर आदि के चित्र प्रचुर संख्या में वहाँ बने हुए हैं। इस चित्रकारी की स्टाइल अजन्ता की स्टाइल से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है, जिसमें मथुरा, मरुत, साँची, गान्धार और फ़ारस के कला का भी पुट नज़र आता है। अवश्य फ़ारस की कला की छाप
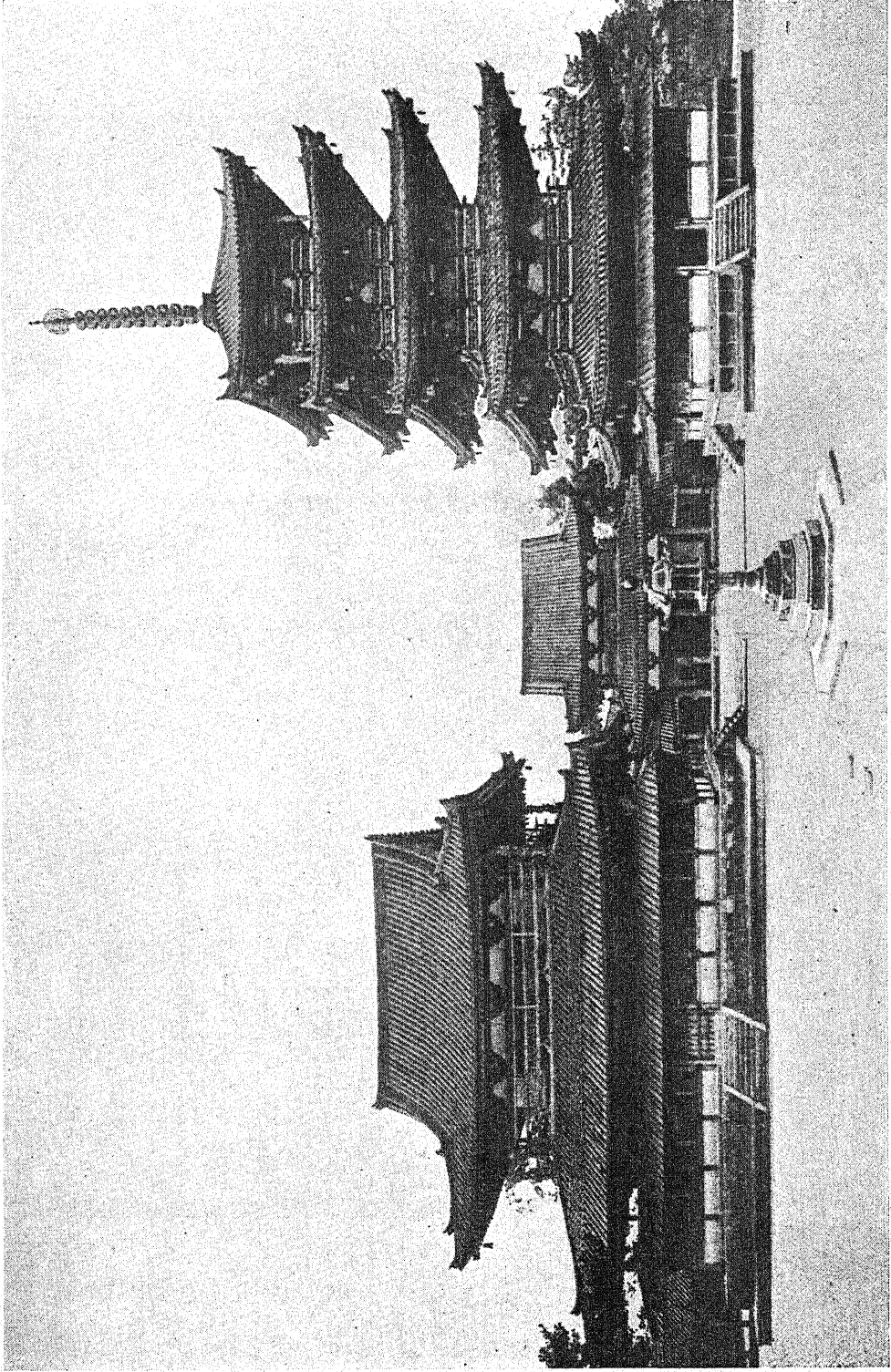
नारा के होरियूजी मन्दिर का पैगोडा तथा उसका कोन्दो (स्वर्ण हॉल)।

नारा के होरियूजी मन्दिर में शाक्य मुनि तथा उनके शिष्यों की काँसे की मूर्त्ति

अत्यन्त हलकी है, नगण्य मात्र; इसका असर केवल सजावट और हाशिये के फूल पत्तों में नज़र आता है, चित्रों के मुख्य विषय में नहीं।

जापानी कला के सुविख्यात आलोचक मिस्टर से-ची-ताकी ने जापानी कला पर बौद्ध धर्म के प्रभाव की सुन्दर व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है—

"यह स्वीकार करना ही होगा कि जापानी कला को प्राणशक्ति और दक्षता बौद्ध धर्म से प्राप्त हुई है। सभी देशों में भवन-निर्माण-कला को धार्मिक भावनाओं से प्रेरणा मिली। जापान भी इस नियम का अपवाद न बन सका। बिल्कुल प्रारम्भ में भवन-निर्माण की सुरुचिपूर्ण कला का प्रदर्शन यहाँ बौद्ध पैगोडा और मठों की इमारतों में हुआ था। बौद्ध धर्म की प्रेरणा की अनुपस्थिति में कदाचित् इस देश में कलापूर्ण मन्दिर और राजभवनों—खासकर उनकी सजावट और शान का निर्माण कभी भी न हो पाता, यद्यपि बौद्ध धर्म के आने के पहले विशालकाय इमारतों का निर्माण भी इस देश में हुआ था जो केवल अपने साइज़ की दृष्टि से बेजोड़ थीं। मूर्ति-निर्माण-कला तथा चित्रकारी पर भी ठीक इसी प्रकार बौद्ध धर्म का कल्याणप्रद प्रभाव पड़ा है। प्राचीन काल की बची हुई कला-कौशल की बिरली ही कोई ऐसी कृति होगी जो बौद्ध धर्म के संसर्ग में न आयी हो। यदि हमारी कला के उत्थान का पथप्रदर्शन हमारी एकाकी राष्ट्रीय रुचि ने ही किया होता तो शायद यह पूर्णतया व्यवहारिक कला-कौशल में ही परिणत हो गयी होती। बाह्य प्रभावों का संपर्क यदि जापानी कला को न मिलता, तो यह कभी भी उत्थान के इस चरम शिखर पर न पहुँच पाती। बौद्ध धर्म के आविर्भाव ने वास्तव में हमारी कला को परिपक्व बनाने में महत्वपूर्ण सहायता दी, वरना हमारी कला अर्द्ध-

कियूतो जोरुरजी मन्दिर में श्रीदेवी की काष्ठ प्रतिमा
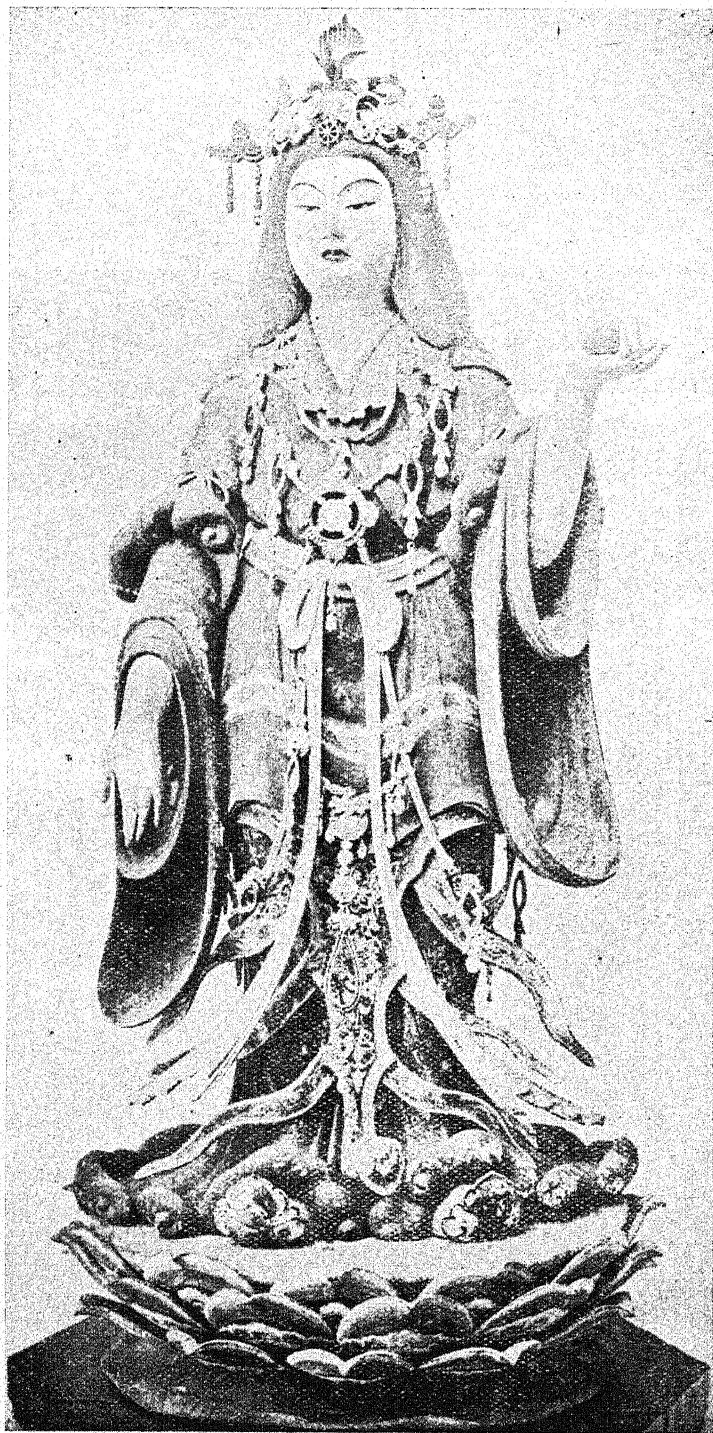
परिपक्व ही रह जाती। सच तो यह है कि जापान बौद्ध धर्म का चिरऋणी रहेगा विशेषतः अपनी ललित कलाओं के विकास के लिए।"

होरियूजी मन्दिर की बाह्य स्टाइल में चीनी प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। मन्दिर का भवन मुख्यतः लकड़ी का बना हुआ है। लगभग दो-तीन फ़ीट व्यास के काष्ठस्तम्भ भारी शहतीरों को टेके हुए हैं। संधिकोण को सँभालने के लिए उनमें सादे ब्रैकेट लगे हुए हैं। ये शहतीरें काठ की छत को सँभालती हैं, जिन पर खपरैल बिछी हुई है। दीवालें या तो प्लैस्टिक की बनी हैं या पर्दों की। इस ढंग की हलकी किन्तु सुदृढ़ इमारतें वहाँ नित्यप्रति आनेवाले भूकम्प के धक्के को अच्छी तरह सह सकती हैं।

इन मठों के भीतर का भाग अत्यन्त शानदार होता है। प्लैटफ़ार्म पर बुद्धजी की एक स्वर्णिल प्रतिमा रहती है, जिसके इर्द-गिर्द बोद्धिसत्त्वों की मूर्त्तियाँ होती हैं। इनके ऊपर एक विशाल छत्र है, जिस पर वाद्ययंत्र लिए हुए देवदूतों के चित्र खुदे हुए हैं। लकड़ी के स्तंभ को सिंदुरिये, आसमानी, और हरे रंग तथा स्वर्णिल चमक और विभिन्न पालिशों से विभूषित किया गया है। दीवालें बौद्ध अमिताभ के स्वर्गसम्बन्धी भित्तिचित्रों से सजाई गई हैं।

नारा के होरियूजी मन्दिर के अतिरिक्त उसी के समकक्षी जापान में अन्य कई स्थानों पर भी कई एक मन्दिर और पवित्र इमारतें हैं। इनमें यूजी का बियोडिन मठ विशेष उल्लेखनीय है। चीन की भारीभरकम और गम्भीर तथा निरुल्लास इमारतों ने यहाँ अल्पकाय किन्तु लालित्यपूर्ण रूप धारण कर लिया है। छतें गगनचुम्बी न होकर नीची हो गई हैं। इनके सर्वांग में एक प्रशान्त लालित्य निहित हो गई है। बाह्य रेखाएँ भी अतीव उत्कृष्ट हैं। बाह्य सजावट में भी सादगी का स्थान सर्वोपरि है, व्यर्थ की तड़क-भड़क नहीं है। किन्तु भीतर होरियूजी के मन्दिर की भाँति ही इस मन्दिर को भी पूर्ण सजधज के साथ अलंकृत किया गया है। छत में खुदे हुए मनोरम चित्र, काली पालिश के बेल-बूटे, जिनमें हाथीदाँत, सीप तथा चाँदी जुड़ी हुई हैं, उसकी छटा को सुरम्यतर बनाते हैं, और नीचे फ़र्श पर तरह-तरह के रंगों से विभूषित सुनहली कारीगरी उसे और भी मनोरम बनाती है। फलस्वरूप मन्द प्रकाश में एक गहरी, किन्तु गांभीर्य्यपूर्ण आभा का अनुभव यहाँ होता है।

निक्कू के समाधि-मन्दिर तथा धार्मिक इमारतें बाद के तोकूगावा काल की कृतियाँ हैं। इनके अन्दर सजधज की पराकाष्ठा पहुँच चुकी है। यूजी के वियूडोइन काल की चित्रकला की सादगी और शिष्टता इन इमारतों के अन्दर नहीं मिलती। इनकी सजावट और चित्रकारी में अतिक्रमणता यहाँ तक आ गई है कि मन्दिर की स्थापत्य-कला की ख़ूबियाँ भी इनके अन्दर छिप जाती हैं। अवश्य ही इन मन्दिरों का एक शक्तिशाली और पुर-असर प्रभाव दर्शक पर पड़ता है किन्तु कला की सुरुचि का अपकर्ष भी इनसे साफ़ प्रकट होता है।

यह कहा जाता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का पता जितनी अच्छी तरह उसके मकान से लग सकता है, उतना अन्य किसी वस्तु से नहीं। एक अंग्रेज़ का मकान उसका दुर्ग है। उसे सुरक्षणता और एकांतता की आवश्यकता होती है, अतः अपने मकान के निर्माण में वह इस बात का ध्यान रखता है कि मकान मज़बूत और अन्य जनों के सम्पर्क से अलग हो। किन्तु जापानियों के प्रकृति-प्रेम ने उन्हें इसके लिए प्रेरित किया है कि वे अपने दैनिक जीवन में प्राकृतिक सौंदर्य का समावेश वाटिका द्वारा प्रचुर मात्रा में कर सकें। इसी उद्देश्य से जापानियों के घरों में वाटिका का एक प्रमुख स्थान होता है। दोनों इस तरह एक दूसरे से मिले होते हैं कि उनके बीच एक असाधारण सामञ्जस्य स्थापित हो जाय। साथ ही कलात्मक रुचि के प्रदर्शन की विभिन्नता तथा रचनात्मक प्रवृत्तियों के विकास के लिए भी उसमें काफ़ी गुंजाइश रहती है, चाहे यह एक छोटे पैमाने पर ही क्यों न हो। यह बतलाना मुश्किल हो जाता है कि कहाँ पर वाटिका ख़तम होकर मकान शुरू हो जाता है। विशेषतया जब वे परदे जो दीवाल का काम देते हैं, हटा लिये गये होते हैं। शानदार उच्च महलों में या छोटे साधारण हैसियत के घरों में, हर कहीं अन्दर अक्षुब्ध शान्ति विराजती है। जापानी जिन पदार्थों का प्रयोग अपने गृह-निर्माण के लिए करता है, उसके सारभूत गुणों के परखने की क्षमता उसके अन्दर अत्यन्त सजीव होती—और बहुत कुछ अंशों में यही सजीवता उनके घरों की सन्तोषप्रद साज-सज्जा के पीछे निहित होती है। लकड़ी की नक़्क़ाशी में उसकी असलियत को भाँति-भाँति के रंग और पालिश से छिपाने की जगह उच्चकोटि के कलाकार भरपूर यह प्रयत्न करते हैं कि प्रत्येक टुकड़े के आभ्यन्तरिक गुण, रंग, रेशे और तन्तुजाल पूर्णतया निखर आएँ। ठीक इसी तरह अन्य पदार्थों के गुणों का भी निदर्शन कराया जाता है, ताकि इनके संयोग और सम्मिश्रण में सामञ्जस्य के साथ मौलिकता का भी पुट प्रचुर मात्रा में हो।
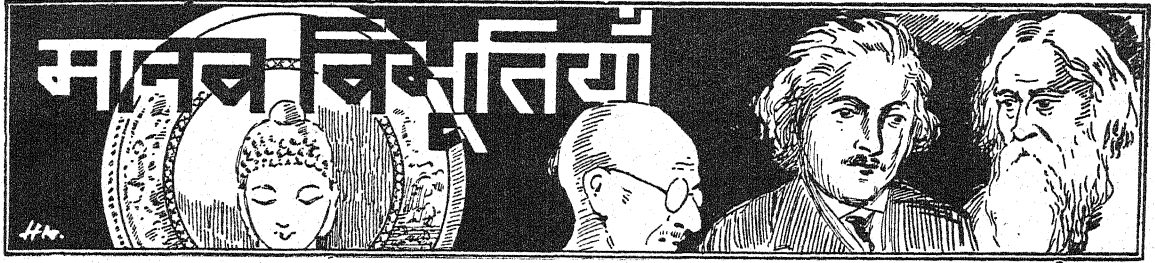
लिओ टॉल्स्टॉय : एक व्यक्तित्व

मेरे घर में नित्य ही फूल खिलते हैं। उनका रङ्ग, उनकी सुवास, उनका विकास, बरबस मुझे मुग्ध कर देते हैं। जब तक मैं उनकी ओर देखता रहता हूँ, अपने को भूला हुआ पाता हूँ। मेरे लिए संसार भर में उन फूलों के आनन्दानुभव के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रह जाता। मैं क्या हूँ, कौन हूँ, आदि कोई भी प्रश्न मेरे दिमाग़ में नहीं आते। जब कोई मुझे बुलाता है अथवा अन्य कोई विघ्न उपस्थित हो जाता है, तभी मेरा ध्यान मुझ तक पहुँचता है।

प्रत्येक श्रेष्ठ जीवन फूल की तरह विकसित होता है। टॉल्स्टॉय की सदा यही साध रही कि वे प्रकृति के निकटतम रहें। प्रकृति जैसा उनका स्वभाव, उनका जीवन हो जाय—सरल, प्रसन्नतापूर्ण। काउन्टेस् एलेक्ज़ेन्ड्रा टॉल्स्टॉय को १ मई १८५८ को लिखे गये पत्र में उन्होंने अपने आनन्दानुभव को व्यक्त करते हुए लिखा है—"वसन्त का आगमन हो गया है। सब ओर आश्चर्य ही दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक दिन आश्चर्यपूर्ण है। एक नग्न वृन्त पर सहसा ही अनेक पत्तियाँ निकल आई हैं। हरी, नीली, पीली अनेक रंगों की चीज़ें भगवान् जाने कहाँ से इस पृथ्वी में से निकल आई हैं। छोटे-छोटे पक्षी आनन्दोन्मत्त हो एक झाड़ी से दूसरी झाड़ी की ओर ख़ूब शोर मचाते हुए उड़ते फिर रहे हैं—न जाने क्यों? और वे कितने सुन्दर लगते हैं! अभी-अभी इसी क्षण दो बुलबुलें मेरी खिड़की के नीचे केलि कर रही हैं। ×××× मैं तीन घंटे तक उनके साथ खेलता रहा। गवाक्ष खुले हुए हैं। रात्रि में उष्णता है। मेंढक और चौकीदार अपने-अपने कार्य में व्यस्त हैं। सभी ओर सौन्दर्य है। मैं विचार करता हूँ वसन्त ऋतु ने थोड़ी देर के लिए मेरे एकाकीपन में प्रवेश कर मुझे बेचैन कर दिया है। मैं चाहता हूँ कि यह बेचैनी तुम्हें भी हो। सम्भव है इनसे भी अधिक आनन्द के क्षण हो सकते हैं, परन्तु इतने पूर्ण अथवा सामञ्जस्य लिये हुए कदापि नहीं। जाड़ों में मैं तुतशेव की कविता 'वसन्त' को विस्मरण कर देता हूँ, और वसन्त-आगमन पर उसका प्रत्येक चरण गुनगुनाया करता हूँ। कल मैं अपने ख़रीदे हुए जंगल में गया। उसे मैं काट रहा हूँ। बर्च (वृक्ष विशेष) में पत्तियाँ निकल रही हैं, और वृक्षों पर बुलबुलों का वास है। इन्हें कुछ नहीं मालूम कि वे सरकारी थे, अब मेरे हैं, काटे जा रहे हैं—मालूम करना भी नहीं चाहते। वे काट डाले जायँगे और फिर बढ़ जायँगे, और हमारे बारे में कदापि कुछ भी न जान पावेंगे। समझ में नहीं आता, तुम्हें मैं यह अनुभव कैसे समझाऊँ। ×××× सबमें पग-पग पर भगवान् की ही सत्ता विद्यमान है।"

टॉल्स्टॉय का यह प्रकृति-प्रेम असाधारण था। यही प्रकृति-प्रेम आगे चलकर जब वे वृद्ध हो गये थे मानव-प्रेम में परिणत हो गया था। जिस सौन्दर्य्य, सरलता, स्वच्छन्दता के निकटतम दर्शन उन्होंने प्रकृति के साथ रहकर किए उनका पूर्ण अभाव उनको मानव में खटकता था और वे दुःख से अभिभूत हो जाते थे। मानव-जीवन क्यों दुःखी है? प्रकृति कितनी सुखी है, सुन्दर है! मनुष्य वैसा क्यों नहीं? क्या मानव जीवन का अन्त मरण है? फिर क्यों जीवित रहा जाय? बहुत दिनों तक जीने से लाभ? महात्मा बुद्ध की तरह वे जीवन की पहेली को सुलझाने में लग गए। उन्होंने समाज में प्रचलित धर्म को देखा, सामाजिक जीवन को देखा, निकटस्थ और दूरस्थ समाज को देखा, उन्हें केवल घृणा और लज्जा ही हुई।

जीवन के प्रारम्भ में ही माता-पिता के स्नेह से वंचित रहने के कारण परिस्थिति ने उन्हें चिन्ताशील बना दिया था। वे अकेले बैठे-बैठे जीवन के विविध दृश्यों को

देखते रहते और शङ्कायें उपस्थित करते रहते। पर शङ्काओं की निवृत्ति उन्हें सरल न मालूम पड़ती। पूर्ण सामञ्जस्ययुक्त जीवन सदैव उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता पर वे उसको वरण न कर पाते। जब उनको स्कूल में भेजा गया वहाँ का वातावरण उन्हें तनिक भी अनुकूल न जँचा। जो भी विषय पढ़ाये जाते थे उनमें से किसी में भी उनकी रुचि न थी। अपनी रुचि के विषय पढ़ने की वहाँ आज्ञा न थी। फल यह हुआ कि उनका प्राथमिक स्कूल का अनुभव बहुत ही कटु रहा। विश्वविद्यालय में जब उनका प्रवेश हुआ वहाँ के राजसी जीवन में पहले तो उन्होंने अपने स्वभावानुसार असाधारणरीत्या ख़ूब भाग लिया, वहाँ के प्रत्येक कार्य में ख़ूब दिलचस्पी दिखाई। नाचने, गाने, शिकार आदि में अपने को भुला दिया। उन्होंने हर तरह से अपने को 'बिगड़ने' दिया। वे स्वयं भी लिखते हैं, "कज़न में मेरा जीवन मेरे लिए किसी प्रकार गौरवपूर्ण न था।" बिरूकोव और ज़ागोस्की सहमत हैं कि टॉल्स्टॉय का जीवन सदाचरण-शून्य था और टॉल्स्टॉय अवश्य ही उससे घृणा करता रहा होगा। इन दोनों का विरोध करते हुए टॉल्स्टॉय ने लिखा है—"मुझे लेशमात्र भी घृणा मालूम न होती थी, प्रत्युत् कज़न समाज में भोग-विलास का सुअवसर देख मुझे प्रसन्नता थी। वह बहुत ही सुन्दर समाज था। मैं अपने भाग्य को सराहता हूँ कि मेरी युवावस्था ऐसी परिस्थितियों में बीती जहाँ एक नवयुवक नवयुवक रह सकता था बिना उन समस्याओं में उलझे हुए जो उस अवस्था में उसकी समझ से बाहर होती हैं, और मैं ऐसा जीवन व्यतीत कर सका जो आलस्य और विलासिता से युक्त होने पर भी पापपूर्ण न था।"

टॉल्स्टॉय का विश्वविद्यालय का जीवन विलासिता से भरा हुआ था और कदाचित् इसी कारण अपने प्रथम वर्ष में वह परीक्षा में असफल रहे। इस समय के जीवन का नज़ारयेव, उनके एक सहपाठी, ने एक चित्र अङ्कित किया है—"मैं काउन्ट से दूर ही रहता था, जो हमारे प्रथम परिचय से ही अपनी तटस्थता, अपने खड़े रहनेवाले बालों और अपनी अर्ध-निमीलित आँखों के चुभते हुए भाव से मुझे अपने पास तक न फटकने देते थे। मैंने कदापि ऐसे किसी भी नवयुवक से पहले साक्षात्कार नहीं किया था जिसके अन्दर अपने प्रति बेहद महानता और आत्म-संतोष के भाव भरे हों।"

"पहले तो मैं काउन्ट से मिलता ही न था जिन्होंने अपने बेढंगेपन और लज्जा के होने पर भी 'अमीरज़ादों' की एक टोली की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। उन्होंने मेरे अभिवादन का उत्तर भी नहीं दिया मानों वे यह जतलाना चाहते हों कि यहाँ भी हम एक दूसरे के बराबर नहीं हो सकते।"

विश्वविद्यालय में टॉल्स्टॉय बड़े ठाठ-बाट से रहते थे। अपने पद के अनुकूल वस्त्र धारण करते थे। जो बातचीत टॉल्स्टॉय सन् १८४६ में १८ वर्ष की अवस्था में करते थे वही वे १८८६ में भी करते थे और उतने ही आत्मविश्वास के साथ।

टॉल्स्टॉय को इतिहास के पढ़ने से बेहद चिढ़ थी। उसको वह एकदम बेकार का विषय समझते थे। "यह कौन जानना चाहता है कि भयङ्कर जौन का दूसरा विवाह तेम्रुक की कन्या से २१ अगस्त १५६२ में हुआ था और उसका चौथा विवाह अन्ना अलक्सेयेवना कौल्टौस्की से १५७२ में?"

टॉल्स्टॉय के माता-पिता के देवलोकगत होने पर उनके अभिभावक बने उनके चाचा-चाची जो विलासिता के परम भक्त थे। इन्हीं से टाल्स्टाय के जीवन में भी बड़ी अकड़ और गर्व और शान का आगमन हुआ। जो भी बुराइयाँ बड़े आदमियों के लड़कों में हो सकती हैं, सभी टॉल्स्टॉय में विद्यमान थीं। परन्तु प्रत्येक अवसर पर अनेक बड़ी-बड़ी भूलें होने पर भी टॉल्स्टॉय की विचारशीलता और मननशीलता ने उन्हें कभी नहीं छोड़ा। जब कभी अवकाश मिल जाता वे समाज का और अपने जीवन का पूर्ण विश्लेषण कर डालते। औचित्य अथवा अनौचित्य पर ख़ूब सोचते और जीवन को सामञ्जस्यपूर्ण बनानेवाले तथ्यों को खोजते।

कज़न विश्वविद्यालय के आमोद-प्रमोदपूर्ण जीवन में ओतप्रोत टॉल्स्टॉय एक दिन अमीरों के शत्रु हो सके। इसका एकमात्र कारण उनका बाल्यावस्था से ही विचारशील और एकान्तसेवी होना था। 'बढ़त-बढ़त अभ्यास के जड़मति होत सुजान।' जीवन भर विचार करते-करते टॉल्स्टॉय ने जीवन से अनेक सार ग्रहण किये और सबसे महत्त्वपूर्ण सार यह ग्रहण किया कि सरल जीवन ही, आडम्बरहीन, परिश्रमशील जीवन ही, सुखी हो सकता है। सरलता में ही आत्मसुख निहित है।

ख़ूब सोच-समझकर ही टॉल्स्टॉय ने कृषकों के से वस्त्र पहने और हाथ में कुदाली और फावड़ा ग्रहण किया

उसका उतना ही अधिक आदर और मान था।"

टॉल्स्टॉय के समय में कृषकों की बड़ी ही दीन दशा थी। अकाल आये दिन पड़ा करते थे और सरकारी आदमी लगान वसूल करते समय लेशमात्र भी मनुष्यता का व्यवहार न करते थे। टॉल्स्टॉय ने अपनी आँखों से किसानों की दुर्दशा देखी और उन्होंने अपने अदम्य उत्साह से उनके कष्ट निवारण करने की ठान ली। किसानों को विश्वास न होता था कि कोई अमीर आदमी उनकी मदद के लिए अपना समय और धन दे सकता है। अमीरों के प्रति इन दीनों के हृदयों में घृणा के अतिरिक्त और कुछ न रह गया था। उनके प्रति अविश्वास की जड़ें जम गई थीं। टॉल्स्टॉय को अपने सेवा-व्रत में असफलता रही। वे किसानों के दिलों में विश्वास न पैदा कर सके और अन्त में निराश होकर वे फिर विद्याध्ययन में लग गये। विफल-प्रयास होने पर भी टॉल्स्टॉय ने साहस नहीं छोड़ा। जीवन की पूर्णता की प्राप्ति के लिए वे अनवरत परिश्रम करते रहे। जब इनको अपना जीवन शून्य दिखाई पड़ता तो एकदम आमोद-प्रमोद में अपना समय गँवाने की ठान लेते और जी भर-कर ख़ूब नाच, गाना, शिकार, ताश आदि के लिए अपने को बलि चढ़ा देते। परन्तु यह जीवन भी बहुत दिन नहीं चलता। इनका जीवनस्वप्न फिर इनकी आँखों के सामने नाचने लगता। सुख की खोज में, सामञ्जस्यपूर्ण जीवन के लिए, इनकी उत्कंठा इतनी प्रबल हो उठती कि यह बेचैन हो जाते और त्यागमय जीवन की ओर झुक जाते। काकेशश में जाकर इन्होंने एक झोपड़ी में 'तेन् त्यक्तेन् भुञ्जीथाः' के आदर्श को अपने जीवन में आहत देखना चाहा। परन्तु इनके परिवार-वालों ने इनको ऐसा करने से रोका और इन्हें विवश किया कि ये सेना में सम्मिलित हो जायँ। १८५१ में इन्होंने सेना में प्रवेश किया। सरकासियन लोगों से टॉल्स्टॉय ने युद्ध ठाना और मारकाट का पहला अनुभव प्राप्त किया। तुरन्त ही क्रीमिया का युद्ध प्रारम्भ हो गया और टॉल्स्टॉय ने इसमें पूरा भाग लिया। नर-संहार के दृश्यों ने टॉल्स्टॉय की आत्मा को कँपा दिया। रूसी सिपाहियों की वीरता ने टॉल्स्टॉय के हृदय में घर कर लिया। इस युद्ध में जो भी विचार टॉल्स्टॉय के मस्तिष्क में चक्कर काट रहे थे उनको इन्होंने लिख डाला। विचारों का ताँता बँध गया। उनके प्रवाह में यह बह गये। अपने को किसी भी प्रकार रोक न सके। फलस्वरूप इनकी रचनाएँ हृदयग्राही हुईं। इनकी प्रतिभा से रूसी पाठक और लेखक प्रभावान्वित हुए। 'सिवास्टोपोल की कहानियाँ' लिखकर टॉल्स्टॉय ने अपनी ख्याति का सूत्रपात किया जो दिन प्रतिदिन अधिक होती गई।

'सिवास्टोपोल की कहानियों' के प्रकाशन से टॉल्स्टॉय की इतनी प्रख्याति हुई कि ज़ार ने इनको लड़ाई से दूर किसी सुरक्षित स्थान पर भेजे जाने का आज्ञापत्र निकाला और साथ ही इन्हें सिवास्टोपोल का पूर्ण विवरण लिखने का काम सौंपा गया। जब यह सेण्ट पीटर्सबर्ग में आये इनका धूमधाम से स्वागत किया गया। अमीरों को ख़ुशी थी कि उन्हीं में से एक ऐसा योग्य व्यक्ति निकला जिसने उन सब की नाक रख ली, उनके वर्ग का नाम रूस के कोने-कोने में कर दिया। साहित्यिकों ने इन्हें एक अत्यन्त प्रतिभावान् लेखक के रूप में देखा। तुर्गनेव ने इनसे मिलकर अपने को धन्य माना। नगर भर ने इनके स्वागत के लिए अपना हृदयासन बिछा दिया। जनता पर भी इनकी कहानियों का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। अपने आनन्द को देखकर टॉल्स्टॉय को बहुत प्रसन्नता हुई। परन्तु यह अपने लिखने से सन्तुष्ट न थे। इनको अपनी लेखन-शक्ति में एक भारी त्रुटि दिखाई पड़ती थी। विचार करने पर मालूम हुआ कि उनका गर्व उनकी उन्नति में सबसे बड़ा बाधक है और औरों को प्रसन्न करने के लिए लिखना मूर्खता है। सत्य को ज्यों-का-त्यों लिख देना ही सत्य की आत्मा की रक्षा का एकमात्र उपाय है। परन्तु यह जितना सरल दिखाई पड़ता है, उतना है नहीं।

नेक्रासोव, क्रोपोट्किन, पुशकिन आदि सभी प्रमुख लेखकों ने सिवास्टोपोल की कहानियों की सच्चे हृदय से प्रशंसा की है। नेक्रासोव ने लिखा है—"जिस सत्य के तुमने दर्शन कराये हैं, वह तो हमारे देश के लिए नितान्त ही नई चीज़ है। गोगोल की मृत्यु के बाद से तो उसके दर्शन ही रूसी साहित्य में दुर्लभ हो गये थे।" पचास वर्ष बाद क्रोपोट्किन ने लिखा—'युद्ध और शान्ति' में (War and Peace) जिस सौन्दर्य और सत्य के दर्शन टॉल्स्टॉय ने कराये हैं, उनका सूत्रपात तो सिवास्टोपोल की कहानियों में हो गया था। वास्तव में विश्व भर के युद्ध-साहित्य में यह एक नवीन बात है।"

टॉल्स्टॉय में सत्य के दर्शन करने की अद्भुत शक्ति थी। हैन्स ऐन्डर्सन की एक कहानी है, जिसमें एक राजा कोई भी वस्त्र नहीं पहने हुए है और तब भी जनता

उसकी शाही पोशाक को देख-देखकर आनन्द से विह्वल हो जाती है। केवल एक बालक वहाँ ऐसा है जो स्पष्ट देख रहा है कि राजा कुछ भी नहीं पहने है। ठीक उसी बालक की तरह टॉल्स्टॉय भी सत्य के दर्शन करने की क्षमता से सुसज्जित थे। इसी क्षमता के कारण वह आगे चलकर एक साहित्य महारथी बन सके।

टॉल्स्टॉय की अपने सहयोगियों से ज़रा भी न बनती थी। उनके दृष्टिकोण में अन्तर था। जहाँ अन्य लेखक जीवन से दूर भागकर अपने को जनता का शिक्षक समझते थे और अपने लेखन कार्य को बहुत भारी श्रेय देते थे, टॉल्स्टॉय जीवन का अनुभव प्राप्त करना जीवन का प्रमुख अङ्ग समझते थे जिसके बिना लेखक लेखक हो ही नहीं सकता। फिर टॉल्स्टॉय को उन सबके आचरण से भी घृणा थी। वे सब भी टॉल्स्टॉय को पागल समझते थे। तुर्गनेव से टॉल्स्टॉय की ज़रा भी न पटती थी। परन्तु ट्रूशीनाइन, ग्रिगोरोविच, नेक्रासोव आदि इनके परम मित्र थे। कवि फेट इनका अभिन्नहृदय मित्र था और जीवन भर उसने इनका साथ दिया। झूठ और पाखण्ड और बदचलनी से इन्हें घृणा हो गई और वास्तविक जीवन की खोज के लिए इनका मन चञ्चल हो उठा।

टॉल्स्टॉय (१८६२): इसी वर्ष इनका विवाह हुआ था।

इधर रूस में टॉल्स्टॉय ने अपनी कहानियों से एक आन्दोलन का सूत्रपात्र किया था उधर जर्मनी में भी नए-नए लेखक पैदा हो गए थे जिन्होंने भोगविलास में डूबे हुए अमीरों की काली करतूतों को जनता के सामने रखा और उनके प्रति घृणा के भावों को प्रादुर्भूत करने में विशेष सहायता पहुँचाई। इन लेखकों में गोदेल्फ़ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन जर्मन लेखकों का रूस में बहुत आदर हुआ। ज़ार ने भी नए विचारों के फैलाने में कम सहायता नहीं की। दासता की प्रथा का अन्त करने के लिए और कृषक वर्ग में अधिक स्वाधीनता का प्रसार करने के लिए सब ओर से एक भीष्म प्रयास प्रारम्भ हुआ। टॉल्स्टॉय की **पोलीकोशका** कहानी को पढ़कर पत्थर के भी दिल दहल गए और शताब्दियों की दासता प्रथा (serfdom) को अन्त करने के लिए रूस के एक कोने से दूसरे कोने तक एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। टॉल्स्टॉय के हृदय में उल्लास था, उत्साह था। आन्दोलन को उनसे पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। जनता की सेवा की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अन्य देशों की जनता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए रूस से बाहर जाने की ठानी। टॉल्स्टॉय भली भाँति समझ गए थे कि जब तक रूसी जनता शिक्षित न होगी कोई भी सुधार सफल न होगा। २६ वर्ष की आयु में वे जर्मनी को चल दिये। पाँच वर्ष में तीन बार यह रूस से बाहर गए और अन्य देशों की जनता और उनकी सामाजिक स्थिति का सुचारु रूप से ज्ञान प्राप्त किया। जर्मन शिक्षावादी फ्रोबेल से मिलकर इन्होंने अपने को धन्य माना और उनकी शिक्षाप्रणाली से व्यावहारिक लाभ उठाने के लिए इन्होंने अपने ग्राम यास्नाया पोलयाना में एक स्कूल खोला और अपने यहाँ के समस्त दासों को स्वाधीनता दे दी। यह अन्तिम कार्य करके टॉल्स्टॉय ने अपनी दूरदर्शिता और बुद्धिमानी का परिचय दिया। क्योंकि इनके ऐसा करने के पश्चात् ही रूस में क़ानून बन गया कि दासों को मुक्त कर दिया जाय। अपनी विदेशी यात्राओं से लौटने पर टॉल्स्टॉय अनेक महान्

योरोपीय लेखकों के समस्त ग्रन्थ अपने साथ लाये थे। परन्तु इन किताबों को चुङ्गीवालों ने सेन्सर को दिखाने के लिए रोके रक्खा। ५० वर्ष बाद टॉल्स्टॉय ने लिखा "सेन्सर महोदय अभी तक कदाचित् उन ग्रन्थों का पारायण कर रहे हैं!"

यास्नाया पोलयाना में स्कूल में पढ़ाते समय के अनुभवों में से टॉल्स्टॉय का एक अनुभव उल्लेखनीय है क्योंकि वैसा अनुभव विरले ही शिक्षक को हुआ करता है। बड़ी ही सत्यता के साथ टॉल्स्टॉय का कथन है—"अपनी अन्तरात्मा में मैं भली भाँति समझ गया था कि मैं कुछ भी आवश्यक बात सिखाने के पूर्ण अयोग्य था क्योंकि मुझे स्वयं ही नहीं मालूम था कि आवश्यक है क्या।"

पञ्चायत का कार्य, स्कूल में अध्यापन कार्य और पत्र का सम्पादन, इन्हीं में बस टॉल्स्टॉय का समय कट जाता था। इनको सन्तोष इनमें से किसी भी कार्य से न होता था। हृदय में इनको ऐसा लगता था मानों जो कुछ वह कर रहे हैं सब झूठ है। इनका मस्तिष्क इस झूठ के बोझ को न उठा सका और यह रोगी रहने लगे। फिर विचार-कर यह बशकीर लोगों के मध्य में डेरा डालने के लिए और उनके देश की खुली हवा सेवन करने, कूमिस पान करने, और एक पशु का प्राकृतिक जीवन बिताने चल खड़े हुए।

स्वास्थ्य-लाभ करके जब यह लौटे तो इन्होंने विवाह करने की सोची और कुछ कठिनाइयों के बाद डाक्टर बेह्र (Dr. Behr) की मझली कन्या से इन्होंने प्रस्ताव किया जो स्वीकृत हुआ। विवाह के समय इनकी अवस्था ३४ वर्ष की और वधू की १८ वर्ष की थी। विवाह करने के पूर्व इन्होंने अपनी भावी पत्नी को अपनी डायरी पढ़ने को दे दी थी जिससे कि वह समझ जाय कि उसे वैसे पुरुष के साथ रहना होगा। डायरी में टॉल्स्टॉय ने ईमानदारी के साथ अपनी युवावस्था की सभी आवारगी की बातें स्पष्ट लिख दी थीं। इनकी भावी पत्नी जो इन्हें सद्गुणों की खान और एक देवता पुरुष समझे हुए थी डायरी को पढ़कर शङ्कित हुई। उसने रो रो कर रात्रि बिताई, डायरी लौटा दी, और टॉल्स्टॉय के गत जीवन को क्षमा प्रदान की। विवाह कर टॉल्स्टॉय बहुत प्रसन्न हुए और इनका समय आनन्द में कटा। यह अपने को भूल गए। अपने मित्र फेट को एक पत्र में इन्होंने लिखा—"यह पत्र मैं ग्राम से लिख रहा है और लिखते समय ऊपर के कमरे में वह मेरे भाई से बातें कर रही है। मैं अपनी पत्नी की बोली सुन रहा हूँ, वह पत्नी जिसको मैं विश्व भर से अधिक प्रेम करता हूँ। मैं ३४ वर्ष तक जीवित रहा बिना यह जाने कि मेरे लिए प्रेम करना सम्भव था, और फिर इतना प्रसन्न होना भी! जब मुझे अधिक शांति होगी मैं तुम्हें लम्बा पत्र लिखूँगा। × × × × × इस समय मुझे यही सतत विचार रहता है कि इस आनन्द के मैं कदापि योग्य नहीं हूँ। वह देखो.........वह आ रही है। मैं उसकी पद-ध्वनि सुन रहा हूँ, और वह कितनी प्रिय मालूम होती है! तुम-जैसे भले आदमी, और महान् आश्चर्य्य तो इस बात का है कि ऐसा प्राणी जैसी मेरी पत्नी, मुझे क्यों प्रेम करते हैं?"

सोलह वर्ष तक टॉल्स्टॉय ने विवाहित जीवन का पूर्ण आनन्द लिया। टॉल्स्टॉय को बालकों से बहुत प्रेम था और वे सदा उन्हें घेरे रहते थे। वे सब उनका भरोसा करते थे। एक प्रश्न में ही वह बच्चों का मन मोह लेते थे और बच्चे उनसे सारी बातें बड़ी ही बे तकल्लुफ़ी के साथ कह डालते थे। इतना ही नहीं। वह बच्चों की मन की बात को भी तुरन्त ताड़ लिया करते थे। बच्चे उनके पास दौड़े-दौड़े आते थे और कहते थे कि उनके पास एक बड़ा रहस्य है और उसका उद्घाटन करने से इन्कार करते थे। तब टॉल्स्टॉय चुपके से उनके कान में उनके महान् रहस्य की बात बतला देते थे। उस पर उनके बच्चे ख़ुशी से फूले न समाते थे, और आश्चर्य्य से कहते थे—"हमारे पापा कैसे अद्भुत हैं! उन्हें हमारा रहस्य मालूम कैसे हो गया?"

यास्नाया पोलयाना का जीवन बहुत शान्तिपूर्ण था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि टॉल्स्टॉय को परम सुख मिल गया था। मानसिक कष्ट उनको अब भी थे और उतने ही तीव्र जैसे उनके भाई निकोलस की मृत्यु के पश्चात् (१८६०) उन्हें झेलने पड़े थे। वैवाहिक जीवन के साथ-साथ साहित्यसृजन का भी काम चल रहा था। ज़मींदारी की देख भाल और पारिवारिक सुख की रक्षा में भी यह उत्तरदायित्व अनुभव कर रहे थे। परिवार में बच्चों की वृद्धि के साथ धन की भी प्रचुरता हो चली थी। अधिक भूमि भी ख़रीद ली गई थी। पैदावार ख़ूब बढ़ गई थी।

अपने स्कूल के बच्चों को पढ़ाने के लिए उन्होंने एक पोथी भी लिखी जो उनके शिक्षण-कार्य के प्रेम की परिचायिका है। तुर्गनेव को इस पुस्तक की एक कहानी,

काकेशश का क़ैदी, छोड़कर कुछ भी अच्छा न लगा। और उनकी यह भी शिकायत रही कि उसका मूल्य बहुत ही अधिक रक्खा गया है। टॉल्स्टॉय ने अन्ना करैनिना का भी लिखना प्रारम्भ कर दिया था। तुर्गनेव ने जब अन्ना करैनिना को पढ़ा तो ज़रा भी पसन्द न किया। कवि पोलोन्सकी को उन्होंने लिखा—"अन्ना करैनिना मुझे लेशमात्र भी पसन्द नहीं यद्यपि उसमें शिकार सम्बन्धी कुछ पठनीय पृष्ठ हैं। उसमें मौस्को की, स्लावजाति के प्रेम की, और अमीरी की बू आती है।"

जब अन्ना करैनिना पुस्तकाकार निकली, रूस में उसका बड़ा आदर हुआ और अन्य देशों में भी टॉल्स्टॉय की प्रतिभा से लेखक प्रभावान्वित हुए। १८६६ में युद्ध और शांति और उसके आठ वर्ष पश्चात् अन्ना करैनिना प्रकाशित हुए और १८७८ में उनका तुर्गनेव से मेल हो गया।

टॉल्स्टॉय अब बहुत वृद्ध हो गए थे और अब तक का उनका जीवन निरन्तर मानसिक संघर्ष में बीता था। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ही उन्होंने जीवन की वह झाँकी की, जिससे उनको संतोष प्राप्त हुआ और समस्त युद्ध को, हिंसा को, उन्होंने पापाचरण बताया, जिससे मोहनदास कर्मचन्द गांधी प्रभावित हुए।

बेह्र ने अपने संस्मरणों में टॉल्स्टॉय के नित्यप्रति के जीवन की और उनके घरेलू जीवन की अनेक बातें लिखी हैं, जिससे पता चल जाता है कि टॉल्स्टॉय के संसर्ग में आनेवाले परिचित-अपरिचित सभी उनसे कितने प्रभावित होते थे। "यास्नाया पोलयाना में सदैव आनन्द लहरें लिया करता था और इसके आदिस्रोत थे टॉल्स्टॉय। दार्शनिक प्रश्नों, बच्चों की शिक्षा और अन्य विषयों पर बातचीत करना और उन पर अपनी सम्मति देना आदि टॉल्स्टॉय को बहुत प्रिय होता था और वह औरों में भी उन विषयों के प्रति अनुराग पैदा कर देते थे। खेलकूद और सैर-सपाटों में उनको बहुत आनन्द आता था। मेरे साथ उन्हें खेत काटना और कुदाली चलाना पसन्द था। वे मेरे साथ व्यायाम करते, दौड़ते, एक पाँव उठाकर कूदते, और गोरोदकी (लकड़ी का एक खेल) खेलते। यद्यपि मैं उनसे बल में कम था, क्योंकि वे १८० पौण्ड का बोझ एक ही हाथ से उठा लेते थे, मैं उनसे दौड़ में बाज़ी ले जाता था, लेकिन उनसे आगे बढ़ नहीं पाता था, क्योंकि मैं सदैव हँसता रहता था। हम सब खेल में हँसते ही रहते थे। जब कभी हम कार्य में व्यस्त खेतिहरों के खेतों में से निकलते तो टॉल्स्टॉय किसी थके हुए कृषक के पास से उसका हँसिया ले लेते और उसका काम कर डालते। मुझे भी उनका साथ निभाना पड़ता। वह मुझसे पूछते—"हम इतने बलिष्ठ होने पर भी लगातार छः दिन क्यों नहीं खेत काट सकते, जब कि किसान केवल रोटियाँ खाकर और गीली धरती पर सोकर काट सकता है?" अन्त में वे कहते—"उनकी सी परिस्थिति में रहकर थोड़ा करके देखो तो। खेत छोड़ते समय वह थोड़ी सी घास हाथ में लेते और उसे सूँघते और उसकी सुवास को सराहते।"

उचित अवसर पर कहा गया टॉल्स्टॉय का एक शब्दमात्र ही सुननेवालों को प्रभावित कर देता था। टाल्स्टॉय

रूस के प्रमुख लेखकगण—(१८५६) : तुर्गनेव, सोलीगून, टॉल्स्टॉय, नेक्रासोव, ग्रिगोरीफ़ और पानेफ़

में सचाई बेहद थी। और वे अपने मन की बात स्पष्ट कह डालते थे। यदि स्टेशन पर पहुँचकर उन्हें गाड़ी न मिलती तो वह इस ढंग से 'अरे! हमसे वह छूट गई!' कहते कि कोई बड़ी भारी आपत्ति आ गई हो और फिर स्वयं ही ज़ोर से हँस पड़ते और सबको हँसा देते। जब वे किसी से नियत समय पर न मिल पाते, तब भी वह ऐसा ही आचरण करते। यदि उनकी बात से उनकी पत्नी आशङ्कित हो जातीं तो हँसी में झिड़की खाये हुए बालक की तरह कहते, "अच्छा अब ऐसे हम कभी नहीं करेंगे।"

उनकी हँसी बड़ी ज़ोर की होती थी और सबको हँसा देती थी। हँसते समय उनका सिर एक ओर को झुक जाता और उनका समस्त शरीर हिल जाता था।

१८७६ में उन्होंने प्रसिद्ध कम्पोज़र चैकोस्की से परिचय किया। चैकोस्की टॉल्स्टॉय के भक्त थे और उसने एक दिन केवल उनको प्रसन्न करने के लिए रूस के प्रसिद्ध गायनाचार्यों को एकत्रित कर कन्सर्ट का आयोजन किया। चैकोस्की ने लिखा है—"मेरे जीवन में मुझे कभी इतनी प्रसन्नता नहीं हुई, न गर्व ही हुआ, जैसी कि लिओ निकोलेइविच टॉल्स्टॉय को अपने पार्श्व में गाने को सुनकर अश्रु बहाते हुए देखकर।"

विवाह के पश्चात् टॉल्स्टॉय का संपूर्ण जीवन केवल भगवान् की सेवा के निमित्त ही रह गया। और इस जीवन के लिए टॉल्स्टॉय आजीवन तैयारी करते रहे थे। केवल कृषकों के निश्छल जीवन में उन्होंने जीवन के अर्थ स्पष्ट रूप से पढ़े। इन्होंने कृषक के-से कपड़े पहने, उसका-सा भोजन किया और अपना समस्त आचरण कृषक का-सा बना लिया। अपने एक निबन्ध में इन्होंने लिखा है, "जो उपवास नहीं कर सकता, भलामानुस नहीं बन सकता।" इस कथन की सचाई को गांधीजी ने व्यवहार-रूप में परखा और अपने असहयोग आन्दोलन में उसकी सफलता दिखाई। इन्होंने आखेट करना, मद्य पीना, तम्बाकू पीना—सब बन्द कर दिया। रूबिल देखकर इनको कष्ट होता था। रेल की यात्रा से इन्हें भय होता था। इनसे जितना भी त्याग बन पड़ा, उसका पालन किया और अपने जीवन को एकदम सरल बना लिया। रूस में अकाल पड़ने पर इन्होंने तन, मन, धन, जन से पीड़ितों का कष्ट निवारण किया। अधिकारीगण उनके साम्यवादी विचारों से घबरा गये थे और उनको रोकना भी चाहते थे पर ज़ार उनसे इतना प्रभावित था कि उन्हें लेशमात्र भी कष्ट न होने देता था। सन् १८६१ में इन्होंने दूखोबोर्स की सहायतार्थ आन्दोलन प्रारम्भ किया और उनके प्रति किये गये अत्याचारों को बन्द कराया। इसी जाति की सहायतार्थ इन्होंने 'Resurrection' नामक उपन्यास लिखा और ईसाई धर्म के विरोध में सब कुछ कह डाला। इस कारण इनको ईसाई धर्म से निकाल दिया गया।

वृद्ध होने पर इनके परिवार, विशेषकर इनकी धर्मपत्नी, ने इन्हें बहुत दुःख दिया। जिस बात को इनका दिल गवाही न देता था, उसे यह कदापि न करते थे। धन से इन्हें घृणा थी। इनकी स्त्री को धन से प्रगाढ़ प्रेम। इसी से दोनों में अनबन रहती थी। एक दिन निमोनिया की बीमारी में ग्रस्त होने पर भी यह घर छोड़कर चल दिये। और फिर जीवित घर लौटकर नहीं आये।

उपसंहार

टॉल्स्टॉय की रचनाएँ पढ़ते समय मुझे ठीक वैसा ही लगता है जैसे मैं खिले हुए फूलों को देख रहा हूँ। परन्तु मानव जीवन और फूल में एक बहुत बड़ा अन्तर है। यदि हम फूल को विकसित पाते हैं तो मानव जीवन को कुचला हुआ, जर्जरित, दुर्गन्धयुक्त। अकस्मात् ही कभी उसमें दिव्यता की झलक दिखाई पड़ जाती है।

टॉल्स्टॉय की कृतियों और टॉल्स्टॉय के जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर है। जिस विवेक, विचारशीलता, गम्भीरता का परिचय लेखक टॉल्स्टॉय में पाठक को मिलता है जिनके द्वारा उनकी आत्मा निखरी हुई दृष्टिगोचर होती है, वही जीवन-व्यापार में संलग्न टॉल्स्टॉय में कहीं ढूँढ़े नहीं मिलती। टॉल्स्टॉय जीवन पर्यन्त भले बनने की कामना करते रहे परन्तु भले बन न सके। उन्होंने युद्ध में भाग लिया, ख़ूब शराब पी, ख़ूब व्यभिचार किया, ख़ूब क्रोध किया, परन्तु लेखों में, कहानियों में, सदैव प्रायश्चित्त रूप से अपने आचरण को बुरा कहा और उसके विरुद्ध आवाज़ उठाई।

टॉल्स्टॉय में एक देव की शक्ति और स्फूर्ति थी। वे जिस काम को करते उसमें जुट जाते। उनका मस्तिष्क उनके हृदय से अधिक बलवान् था। इसका प्रमाण उनकी समस्त कृतियाँ हैं। उनके बचपन के स्केचों को पढ़िये अथवा कॉसेक जीवन के चित्रण को, सबमें आपको एक अद्भुत, विलक्षण चमत्कार के दर्शन मिलेंगे। दृष्टि की तीक्ष्णता, गुणग्राहकता और अनेक भाँति के मनुष्यों के हृदयों और मस्तिष्कों और उनकी परिस्थितियों का विश्लेषण आपको मुग्ध कर देगा। सर्वाङ्गीण जीवन

से उनको कितनी दिलचस्पी थी, उसको वह कितना महत्वपूर्ण समझते थे, यह उनकी प्रत्येक कृति में प्रत्येक स्थल पर स्पष्ट होती है। आवश्यक नहीं कि टॉल्स्टॉय अपनी कहानियों और उपन्यासों के लम्बे-चौड़े प्लाट रचे और तभी पाठक का मनहरण किया जा सके। मानव जीवन का विवेचन वह इस प्रकार करेंगे कि पाठक को बरबस ही उनका साथ देना पड़ेगा। उनकी कहानियाँ मानव जीवन की भाँति एकदम हृदय पर चोट करनेवाली और सीधी सच्ची हैं। और जो बात उनकी कहानियों में है वही उनके उपन्यासों पर भी घटित होती है। जो कुछ भी टॉल्स्टॉय ने लिखा है जीवन से लेकर। और यही उनके व्यक्तित्व को अधिक निखारने में सफल हुआ है। उनके पूर्व रूस में जो भी लेखक हो गए हैं, पुश्किन से लेकर तुर्गनेव तक, उन सबके कार्य में टॉल्स्टॉय ने न केवल हाथ ही बँटाया है परन्तु उसको पूर्णता के शिखर तक पहुँचाने में वे ही समस्त श्रेय के अधिकारी हैं।

टॉल्स्टॉय में तीन गुण हैं जिनके लिए वे अन्य रूसी लेखकों की अपेक्षा विश्व भर में मान्य रहे हैं—अत्यधिक भावुकता, सत्याङ्कन क्षमता और गम्भीर विचारशीलता। उनकी दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण थी और जीवन के प्रति उनमें बेहद प्रेम था। वे सदैव जीवन भर भलाई और बुराई के विश्लेषण में लगे रहे—भलाई के क्षेत्र को अधिक विस्तृत करते रहे और बुराई का डटकर सामना। जीवन में उन्होंने संघर्ष बहुत पाया और उनका ध्येय यही रहा कि जीवन में सामञ्जस्य स्थापित किया जाय। इसीलिए उनकी पुस्तकों का हमारे लिए महत्व है और वे आहत रहेंगी।

टॉल्स्टॉय की लायब्रेरी

पहले इसी कमरे में टॉल्स्टॉय अध्ययन किया करते तथा उठते-बैठते थे। फ़ोटो में लकड़ी का चौखट भी दीख रहा है, जिससे लटककर टॉल्स्टॉय ने आत्महत्या करने की सोची थी।

अनेक कहानियों में जो टॉल्स्टॉय ने लिखी हैं वे बारम्बार इसी उधेड़ बुन में रहे हैं कि समाज की कृत्रिम जटिलताओं से किसी भाँति पिंड छुटे और जीवन-व्यवहार सरल हो जाय। ऐसा करने में उन्होंने किसी भी सफलता अथवा असफलता की ओर ले जानेवाली बात को नहीं छिपाया है। जीवन का नग्नरूप एकदम स्पष्ट करके रख दिया है।

टॉल्स्टॉय का जीवन ईसा का जीवन था। उनका उस मानव का जीवन था जिसका रूप आज हम गांधी जी में देख रहे हैं और देख रहे हैं भारत के सत्याग्रहियों में जो सत्य के लिए यम यातनायें तक सह लेते हैं परन्तु अपने कष्ट देनेवालों के प्रति भावना रखते हैं—"ईश्वर यह अज्ञानी हैं, इन्हें क्षमा कर।"

इसी भावना से प्रेरित होकर टॉल्स्टॉय ने अपने को पहचाना, और स्वयं को पहचान लेने के पश्चात् उन्हें और कुछ जानना शेष न रह गया।

अपने में उन्हें जितनी बुराइयाँ मिलीं, उनका उन्होंने त्याग किया और फिर उन्हीं बुराइयों के समाज द्वारा तिरस्कार और बहिष्कार में उन्होंने अपने को बलि चढ़ा दिया। पूर्ण विचार के पश्चात् वह पूर्ण वेग के साथ कर्म-क्षेत्र में उतर पड़ते थे। इसीलिए वे महात्मा कहलाने के अधिकारी हुए। यही रहस्य गांधीजी के भी महात्मा होने का है।